त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३२ : किरण १-२

जनवरी-जून १९७९

सम्पादक-मण्डल
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री गोकुलप्रसाद जैन

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल. बी.
साहित्यरत्न

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस किरण का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	मंगलाचरण—सम्मइसुत्त	१
२	संत साहित्य और जैन अपभ्रंश काव्य —डा० राममूर्ति त्रिपाठी, उज्जैन	२
३.	मालवा के परमार नरेश और जैनधर्म —डा० शिवकुमार नामदेव, डिण्डोरी (मण्डला)	७
४.	पञ्चपरमेष्ठी और णमोकार मंत्र —डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत	१०
५.	आदि जिन, शिव एवं शैव परम्परा —श्री मुनीशचंद्र जोशी, नई दिल्ली	१४
६.	जैन धर्म : उद्भव और विकास —डा० रवीन्द्र जैन, मद्रास	१६
७.	जैन काव्य में व्यवहृत 'ज्ञान' शब्द : रूप-स्वरूप —डा० अरुणलता जैन, फरुखाबाद	२२
८.	मथुरा की जैन कला —डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर	२६
९.	अनेकान्त—डा० शोभनाथ पाठक	३०
१०.	एलाचार्य : शब्द-मीमांसा —डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच (म०प्र०)	३२
११.	श्रमण संस्कृति का उदात्त दृष्टिकोण —प्रो० श्री रञ्जन सूरिदेव	३५
१२.	मूर्ति-पूजा की प्रतीकात्मकता —डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'	३९

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्र के सर्वोच्च पुरस्कार के प्रतिष्ठापक श्री साहूजी

[प्रथम पुरस्कार समर्पण के अवसर पर डा० सम्पूर्णानन्द एवं पुरस्कार विजेता मलयालम कवि श्री शंकर कुरूप के साथ]

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३२ : किरण १-२ | जनवरी-जून १९७९

सम्पादक-मण्डल
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री गोकुलप्रसाद जैन

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल. बी.
साहित्यरत्न

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस किरण का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	मंगलाचरण—सम्मइसुत्त	१
२	संत साहित्य और जैन अपभ्रंश काव्य —डा० राममूर्ति त्रिपाठी, उज्जैन	२
३.	मालवा के परमार नरेश और जैनधर्म —डा० शिवकुमार नामदेव, डिण्डोरी (मण्डला)	७
४.	पंचपरमेष्ठी और णमोकार मंत्र —डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत	१०
५.	आदि जिन, शिव एवं शैव परम्परा —श्री मुनीशचन्द्र जोशी, नई दिल्ली	१४
६.	जैन धर्म : उद्भव और विकास —डा० रवीन्द्र जैन, मद्रास	१६
७.	जैन काव्य में व्यवहृत 'ज्ञान' शब्द : रूप-स्वरूप —डा० अरुणलता जैन, फर्रुखाबाद	२२
८.	मथुरा की जैन कला —डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर	२६
९.	अनेकान्त—डा० शोभनाथ पाठक	३०
१०.	एलाचार्य : शब्द-मीमांसा —डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच (म०प्र०)	३२
११.	श्रमण संस्कृति का उदात्त दृष्टिकोण —प्रो० श्री रञ्जन सूरिदेव	३५
१२.	मूर्ति-पूजा की प्रतीकात्मकता —डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'	३९

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

भगवान महावीर के जीवनकाल की मुख्य तिथियां

(जैनागमों के आधार पर)

ईसा पूर्व

५९९—चैत्र शुक्ल त्रयोदशी (३० मार्च) को वज्जीसंघ की राजधानी वैशाली के निकट क्षत्रिय-कुंडग्राम में ज्ञातृ-कुल में जन्म। पिता के तीन नाम—सिद्धार्थ, श्रेयांस तथा यशस्वी। गोत्र—काश्यप। माता के तीन नाम—त्रिशला, विदेहदिन्ना तथा प्रियकारिणी। गोत्र—वासिष्ठ।

५७१—२८ वर्ष की अवस्था में माता-पिता का देहावसान।

५७०—मार्गशीर्ष वदी दशमी (११ नवम्बर) को गृहत्याग करके अनगार श्रमण बन जाना।

५६९—केवल-ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व साढे बारह वर्ष के छद्मस्थ काल का प्रथम वर्षावास अास्थिक ग्राम (वज्जीसंघ) में।

५६८—छद्मस्थकाल का द्वितीय वर्षावास नालंदा में।

५६७—चम्पा में छद्मस्थ काल का तृतीय वर्षावास।

५६६—छद्मस्थ काल का चतुर्थ वर्षावास पृष्ठ चम्पा में।

५६५—भद्रिया (अंग देश) में छद्मस्थ काल का पांचवां वर्षावास।

५६४—छद्मस्थ काल का छठा वर्षावास पुन: भद्रिया में।

५६३—आलंभिया (काशी जनपद) में छद्मस्थ काल का सातवां वर्षावास।

५६२—छद्मस्थ काल का आठवां वर्षावास राजगृह में।

५६१—लाढ देश की दूसरी बार यात्रा। इस बार भी वहां घनघोर उपसर्ग सहन करने पड़े।

५६०—लाढ देश से लौटने के बाद छद्मस्थ काल का दसवां वर्षावास श्रावस्ती में।

५५९—वैशाली में छद्मस्थ काल का ग्यारहवां वर्षावास।

५५८—छद्मस्थ काल का बारहवां तथा अंतिम वर्षावास चम्पा में।

५५७—वैशाख शुक्ल दशमी (२६ अप्रैल) को जंभिय ग्राम (कुछ विद्वानों के अनुसार राजगृह से लगभग ३० मील पर वर्तमान जमुई ग्राम) में केवल-ज्ञान की प्राप्ति। केवल ज्ञान-प्राप्ति के ६६वें दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा (१ अगस्त) को मगध की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर प्रथम प्रवचन, जिसमें मगधराज श्रेणिक बिम्बसार अपनी रानी चेलना के सहित उपस्थित। उनके इसी प्रवचन से उनके तीर्थ (चतुर्विध संघ) की स्थापना हुई।

५५६—विदेह जनपद में विहार तथा चौदहवां वर्षावास वैशाली में।

५५५—वत्स तथा कौशल जनपद में विहार तथा पन्द्रहवां वाणिज्यग्राम (वज्जी संघ) में।

५५४—मगध में विहार तथा सोलहवां वर्षावास राजगृह में।

५५३—अंग व विदेह जनपद में विहार तथा सत्रहवां वर्षावास वाणिज्य ग्राम मे।

ईसा पूर्व

५५२—काशी जनपद में विहार तथा अठारहवां वर्षावास राजगृह में।

५५१—मगध जनपद में विहार तथा उन्नीसवां वर्षावास पुन: राजगृह में।

५५०—वत्स जनपद में विहार तथा २०वां वर्षावास वैशाली में।

५४९—विदेह, कोशल तथा पंचाल जनपद में विहार तथा इक्कीसवां वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

५४८—मगध में भ्रमण तथा बाईसवां वर्षावास राजगृह में।

५४७—कोशल जनपद में विहार तथा तेईसवां वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

५४६—वत्स तथा मगध जनपद में विहार तथा चौबीसवां वर्षावास राजगृह में।

५४५—अंग तथा विदेह जनपद में विहार तथा पच्चीसवां वर्षावास मिथिला में।

५४४—अंग जनपद में विहार तथा छब्बीसवां वर्षावास पुन: मिथिला में।

५४३—कोशल जनपद में विहार तथा सत्ताईसवां वर्षावास पुन: मिथिला मे।

५४२—कोशल, पंचाल तथा कुरु जनपद में विहार तथा अट्ठाईसवां वर्षावास वाणिज्यग्राम मे।

५४१—मगध जनपद में भ्रमण तथा उन्तीसवां वर्षावास राजगृह में।

५४०—अंग तथा विदेह जनपद में विहार तथा तीसवां वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

५३९—कोशल तथा पंचाल जनपद में विहार तथा इकतीसवां वर्षावास वैशाली में।

५३८—विदेह, कोशल तथा काशी जनपद में विहार तथा बत्तीसवां वर्षावास पुन. वैशाली में।

५३७—मगध तथा अंग जनपद में विहार तथा तेतीसवां वर्षावास राजगृह में।

५३६—मगध में विहार तथा चौंतीसवां वर्षावास नालन्दा में।

५३५—विदेह जनपद में विहार तथा पैंतीसवां वर्षावास वैशाली में।

५३४—कोशल, पंचाल, शूरसेन तथा विदेह जनपद में विहार तथा छत्तीसवां वर्षावास मिथिला में।

५३३—मगध में विहार तथा सैंतीसवां वर्षावास राजगृह में।

५३२—मगध में विहार तथा अड़तीसवां वर्षावास नालंदा में।

५३१—विदेह जनपद में विहार तथा उन्तालीसवां वर्षावास मिथिला में।

५३०—विदेह जनपद में विहार तथा चालीसवां वर्षावास मिथिला में।

५२९—मगध में विहार तथा ४१वां वर्षावास राजगृह में।

५२८—मगध में विहार तथा ४२वां वर्षावास मध्यम पावा में

५२७—दीपावली को मध्यम पावा मे ७२ वर्ष की आयु मे निर्वाण।

□□□

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३२ किरण १ और २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५०५, वि० सं० २०३५ | जनवरी-जून १९७९

सम्मइसुत्तं

णयकंडं

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ।।
[सिद्धं सिद्धार्थानां स्थानमनुपमसुखमुपगतानाम् ।
कुसमयविशासनं शासनं जिनानां भवजिनानाम् ।।]

जिन-शासन स्वतः प्रमाण-सिद्ध है

भावार्थ :—जो संसार के दुःखों को जीत कर अनुपम सुख को उपलब्ध हो चुके हैं, उन जिनेन्द्र भगवान का प्रमाण-प्रसिद्ध अर्थों का स्थान जिन-शासन स्वतः सिद्ध है। वह मिथ्यामतो का खण्डन करने वाला है।

जिन-शासन स्वतः प्रमाण इसलिए है कि वह वीतरागी देव द्वारा प्रकाशित है। कोई भी जीव स्वयं वीतरागी बन कर उसे प्रमाणित कर सकता है। अतः प्रमाण वीतरागता ही है। राग द्वेष से रहित अवस्था ही वीतरागता है।

विशेष—ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग मंगल सूचक है। ग्रन्थ-कर्ता के नाम का सूचक भी 'सिद्ध' शब्द कहा जाता है।

तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठियो य पज्जवणयो य सेसा वियप्पा सिं ।।
[तीर्थङ्करवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकरणी ।
द्रव्यार्थिकश्च पर्यवनयश्च शेषा विकल्पास्तयोः ।।]

तीर्थंकर-वाणी : सामान्य-विशेषात्मक

भावार्थ—तीर्थकरों के वचन सामान्य-विशेषात्मक हैं। वे सामान्य रूप से द्रव्य के प्रतिपादक हैं और विशेष रूप से पर्याय के। द्रव्यार्थिक (निश्चय या परमार्थ) और पर्यायार्थिक (व्यवहार) नयों (सापेक्ष दृष्टियों) से मूल वस्तुओं की व्याख्या की गई है। शास्त्रों में जिन सात नयों का वर्णन मिलता है, वह इन दो नयों का विस्तार है। सभी नय द्रव्यात्मक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में गर्भित हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय का विस्तार नैगम, संग्रह एवं व्यवहार रूप है तथा पर्यायार्थिक नय का विस्तार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत रूप है। मूल जिनवाणी का विवेचन करने वाले ये दो ही नय हैं। □□□

संत साहित्य और जैन अपभ्रंश काव्य

□ डा० राममूर्ति त्रिपाठी, उज्जैन

मध्यकालीन हिन्दी निर्गुण साहित्य के लिए अब "संत-साहित्य" शब्द रूढ हो गया है। मध्यकालीन समस्त भारतीय साधनाएं आगम प्रभावित है—सत-साहित्य भी। सत साहित्य को "प्रभावित" कहने की अपेक्षा मैं तो यह कहना चाहता हूं कि 'आगमिक दृष्टि" का ही वह लोक भाषा मे सहज, प्रस्फुरण है। अतः "प्रभावित" की जगह उसे "आगमिक कहना सगत है। "आगमिक दृष्टि" को यद्यपि आर० डी० रानाडे ने अपने (Mysticims in Maharashtra) मे वैदिक सिद्धान्त का साधनात्मक अविच्छेद्य पार्श्व बनाया है। इस प्रकार के आगम को यद्यपि नैगमिक कहना चाहते है, पर इससे आगम के व्यक्तित्व का विलोप नही होता। प्राचीन आर्य ऋषियो की एक दृष्टि का जैसा विकास और परिष्कार आगमो मे मिलता है, वैसा नैगमिक 'दर्शनो' मे नही। इसलिए मैं जिसे "आगमिग दृष्टि" कहना चाहता हू, उसका संकेत भले ही वैदिक वाङमय में हो, पर उसका स्वतन्त्र विकास और प्रतिष्ठा आगमों में हुई, यह विशेष रूप से ध्यान मे रखने की बात है।

'आगम' यद्यपि भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रचलित और प्ररूढ सब्द है, तथापि यहा एकविशेश अर्थ में वांछित है और वह अर्थ है–द्वयात्मक अद्वयतत्व की परमार्थिक स्थिति। द्वय है—शक्ति और शिव। विश्व-निर्माण के लिए स्पिन्दनात्मक शक्तिकी अपेक्षा है और विश्वातीत स्थिति के लिए नि.स्पद शिव। स्पद और नि स्पद की बात विश्वात्मक और विश्वातीत दृष्टियो से की जा रही है, दृष्टि निरपेक्ष होकर उसे कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। तब वह विश्वातीत तो है ही, विश्वात्मक परिणति की संभावना से संवातीत होने के कारण विश्वात्मक भी। वैज्ञानिक भाषा मे इन्हे ही ऋणात्मक तथा धनात्मक तत्व कह सकते है। विशेषतया इतनी ही है कि 'आगम' में इन्हें 'चिन्मय' कहा गया है। नैगमिक दर्शनो मे कोई भी (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातजल, पूर्व मीमासा तथा उत्तर मीमासा) 'शक्ति' की 'चिन्मय' रूप मे कल्पना नही करता। कुछ तो ऐसे है जो 'शक्ति' तत्व ही नही मानते, कुछ मानते भी है तो 'जड'। 'आगम' (अद्वयवादी) 'शक्ति' को 'चिन्मय' कहते है और 'शिव' को अभिन्न क्षमता के रूप में स्वीकार करते है। अद्वयस्थ वही द्वयात्मक आत्मलीला के निमित्त द्विधा विभक्त होकर परस्पर व्यवहित हो जाती है, पृथक् हो जाती है। इस व्यवधान अथवा पार्थक्य के कारण समस्त सृष्टि अस्थिर, बेचैन, गतिमय तथा खिन्न है। इस स्थिति से उबरने के लिए इस व्यवधान को समाप्त करना पड़ता है, शक्ति से शिव का मेल या सामरस्य अपेक्षित होता है।

निर्गुनिए सत पहले साधक है, इसके बाद और कुछ, और इनकी साधना है—सुरत शब्दयोग। यह सुरत या सुरति और कुछ नही, उक्त 'शक्ति' ही है, जो आदिम मिलन या युगनद्धावस्था को स्मृत्यात्मक बीज रूप मे सभी बद्धात्माओ मे पड़ी हुई है। प्रत्येक व्यक्ति मे यही प्रसुप्त चिन्मयी 'कुण्डलिनी' कही जाती है। अथर्ववेद मे यही 'उच्छिष्ट' है पुराणो मे यही 'शेषनाग' है। स्थूलतम पार्थिकात्मक परिणति के बाद कुण्डलिप्त 'शक्ति' विश्व और व्यष्टि उभयत्र मूलाधार मे स्थित है।

> **कह भीखा सब मौज साहब की**
> **मौजो आपु कहावत।**

भीखा साहब आगमिकों की शक्तिमान (शिव) और शक्ति की भाति **मौजी और मौज** की बात करते है। **मौजी** को एक दूसरे सत ने **शिव** तथा **मौज** को स्पष्ट ही शक्ति कहा है—

> **सुरति सुहागिनि उलटि के मिलो सबद में जाय।**
> **मिलो सबद में आय कन्त को बस में कीन्हा।**

चलै न सिव के ओर जाय जब सक्ती लीन्हा।
फिर सक्ती भी ना रहे, सक्ति से सीव कहाई।
अपने मन के फेर और ना दूजा कोई।
सक्ती शिव है एक नाम कहने को दोई।
पलटू सक्ती सीव का भेद कहा अलगाय।
सुरति सुहागिनि उलटि के मिलो शब्द में जाय।

पलटूदास की इन पंक्तियो के साक्ष्य पर उक्त स्थापना कि आगमिक दृष्टि ही संतों की दृष्टि है, सिद्ध हो जाती है।

आगम की भांति संतजन भी बहिर्याग की अपेक्षा अंतर्याग की ही महत्ता स्वीकृत करते है और इस अंतर्याग की कार्यान्विति 'गुरु' के निर्देश मे ही सभव है। आगमो की भाँति संतजन मानते है कि गुरु की उपलब्धि पारमेश्वर अनुग्रह से ही संभव है। यह गुरु ही है जिसकी उपलब्धि होने पर 'साधना' (अंतर्याग) सभव है। यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है कि द्वयात्मक अद्वय सत्ता विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। विश्वात्मक रूप मे उसके अवरोहण की एक विशिष्ट प्रक्रिया है और उसी प्रकार आरोहण की भी। विचार पक्ष से जहां आगमो ने द्वयात्मक अद्वय तत्व की बात की है वही आचार पक्ष से वासना (काषाय) दमन की जगह वासना शोधन की बात भी। जैनधारा न तो 'द्वयात्मक अद्वय' की बात स्वीकार करती है और न ही वासना के शोधन चिन्मयीकरण की, जबकि 'संत' जन विचार और आचार दोनों पक्षो मे 'आगम' धारा को मानते है। मौजी और मौज, सुरत और शब्द के 'योग' अथवा 'सामरस्य' मे जहा संत जन 'द्वयात्मक अद्वय' को स्वीकार करते है, वहा काम मिलावे राम को' द्वारा प्रेम की महत्ता का गान करते हुए तन्मय परमात्मा की उपलब्धि मे वासना के शोधन और चिन्मयीकरण की भी स्थिति स्वीकार करते है। आगम सम्मत संत परम्परा से जैन धारा का एक तीसरा अन्तर यह भी है कि जहा पहला अद्वयवादी है वहा दूसरा भेदवादी। वह न केवल अनेक आत्मा की ही बात करता है अपितु ससार ससार को भी अनादि और शाश्वत सत्य मानता है। इस प्रकार, ऐसे अनेक भेदक तत्व उभरकर सामने आते है जिनके कारण 'संत' साहित्य के संदर्भ मे जैन साहित्य को देखना असम्भव लगता है। जैन धारा कृच्छ एवम् अच्छेदवादी होने से शरीर स्वयं ससार से पूर्ति विरक्त दृष्टि रखता है। यही कारण है कि जैन साहित्य मे यही निर्वेदभाव पुष्ट होकर शांत रस के रूप मे लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है। शृंगार का चित्रण सर्वदा उनकी कृतियों मे विदसावसामो और वैराग्यपोषक रूप मे हुआ है। जैन काव्य का प्रत्येक नायक निर्वेद के द्वारा अपनी हर रंगीन और सांसारिक मादक वृत्ति का पर्यवसान 'शांत' में ही करता है।

पर इन तमाम भेदक तत्वो के बावजूद छठी-सातवी शती के तांत्रिक मत के प्रभाव-प्रसार ने जैनियों पर भी प्रभाव डाला—फलतः कतिपय अपभ्रंश-बद्ध जैन रचनाओं में 'संत' का-सा स्वर भी श्रुतिगोचर होता है। चरम लक्ष्य से विछिन्न फलतः विजडित एवम् रूढ़प्राय आचार बाहुल्य के प्रति एक तीखी प्रतिक्रिया और अंतर्याग के प्रति लगाव का संत संवादी विद्रोही स्वर कतिपय रचनाओ में विद्यमान है। पाहुड़, दोहा, योगसार, परमात्म प्रकाश, वैराग्यसार, आनन्दा, सावय धम्म दोहा आदि रचनाए ऐसी ही है। इनमें संतसंवादी मनःस्थिति का प्रभाव या प्रतिबिम्बस्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार अन्य रहस्यवादी रचयिताओं ने क्रमागत रूढ़ियों एवम् बाह्याचारों का खण्डन करते हुए पारमार्थिक तत्वों की उपलब्धि के अनुरूप यत्नों और दिशाओं को महत्त्व दिया है—यही स्थिति इन जैन मुनियों की भी है। लगता है कि इस अवधि में आचार या साधन को ही साध्यता की कोटि प्राप्त होती जा रही थी—फलतः कट्टर साम्प्रदायिक लकीरों और रेखाओं के प्रति इनके मन में भी उग्र आक्रोश था और उस झुंझलाहट को वे उसी उग्र स्वर में व्यक्त करते है जिस स्वर में सिद्धो नाथों और निर्गुनियो ने आक्रोश-गर्भ उद्‌गार व्यक्त किए थे। प्रो० हीरा लाल जैन ने ठीक लिखा है कि "इन दोहों में जोगियों का अगम, अचिन्-चिन्, देह, देवली, शिवशक्ति संकल्प-विकल्प, सगुण-निर्गुण, अक्षरबोध विधि, वाम दक्षिण अध्व, दो पथ रवि-शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द है और उनका ऐसे गहन रूप मे प्रयोग हुआ है कि उनमं हमे योग और तांत्रिक ग्रथों का स्मरण हुए बिना

नहीं रहता। संप्रति, आगम संत-संवादी स्वरों मे से एक-एक का पर्यवेक्षण प्रस्तुत है।

(१) परतत्व संबन्धी वैचारिक या सैद्धान्तिक पक्ष -

ऊपर यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि जैन धारा मे आत्मा ही मुक्त दशा में परमात्मा है, वह अनेक है और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का भण्डार है। अशुद्ध दशा में उनके ये गुण कर्मों से ढके रहते है। पर इस मान्यता के साथ-साथ उक्त ग्रंथों मे ऐसी कई बातें पाई जाती हैं, जो नि.सन्देह आगमिक धारा की हैं। संतों की भांति जैन मुनियों के भी वे ही तात्रिक ग्रंथ स्रोत हैं। बौद्धों की भांति जैनो पर भी यह प्रभाव दृष्टिगत होता है। आगमिकों की भांति जैन मुनियो ने भी परमात्म भाव को 'समरस' ही नहीं कहा है, 'शिव-शक्ति' का समरूप या अद्वयात्मक रूप भी कहा है। मुनि रामसिंह ने कहा है (पाहुड़ दोहा)—

सिव विणु सत्ति ण वावरइ, सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
बोहि मि जाणहिं सयलु जगु, बुज्झइ मोह विणु॥

शक्तिरहित शिव कुछ नहीं कर सकता और न तो शक्ति ही शिव का आधार ग्रहण किए बिना कुछ कर सकती है। समस्त जगत् शिव-शक्तिमय है। जड़ परमाणु अपनी समस्त संरचना में गतिमय था, सस्पंद है—जो शक्ति का ही स्थूल परिणाम है। दूसरी ओर, जीवन भी डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० के संयुक्त रूप में द्वयात्मक है। एकत्र वही शक्ति शिव ऋणात्मक धनात्मक अवयव हैं—जो अपनी निरपेक्ष स्थिति मे अद्वयात्मक है। संत साहित्य के अन्तर्गत राधास्वामी साहित्य तथा गुरु नानक की 'पुराण संगत्री' मे भी इस सिद्धान्त का वृहद् रूप से निरूपण है। परतत्व या परमात्मा को समरस कहना द्वयात्मकता सापेक्ष ही तो है। अभिप्राय यह कि मूल धारणा आगम सम्मत है—वही इन जैन मुनियो की उक्तियों में तो प्रतिबिम्बित है ही, सतों ने भी 'सुरत' तथा 'शब्द' के द्वारा तांत्रिक बौद्ध सिद्धो ने 'शून्यता' और 'करुणा' तथा 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के रूप मे उसी धारणा को स्वीकार किया है। अन्यत्र 'समरसीकरण' की भी उक्तियां है—

मणु मिलियउ परमेसरहो, परमेसरु जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्जु चडावउ कस्स॥

मन परमेश्वर से तथा परमेश्वर मन से मिलकर समरस हो जाता है और जब यह सामरस्य हो गया, तब द्वैत का विलय भी जाता है। द्वैत का विलय हो जाने से कौन पूजक और कौन पूज्य? कौन आराधक और कौन आराध्य? फिर तो

"तुभ्यं मह्यं नमो नमः"

की स्थिति आ जाती है। इस तरह सामरस्य की अनेकत्र चर्चा उपलब्ध हो जाती है।

देह महेली एह बढ़ तउ सत्तावइ ताम।
चित्तु णिरंजणु परिणु सिहु समरसि होइ ण जाम॥

लक्ष्य के रूप मे इसी 'सामरस्य' की उपलब्धि भी उन्हें इष्ट है। संतों ने जिन मन्मोन्मती दशा की ओर हकेत किया है—उसका पूर्वाभास इन लोगो मे भी उपलब्ध है—

तुइ बुद्धि तड़त्ति जहि मणु अं वणहं जाइ।
सो सामिय उ एसु कहि अणणहिं देवहिं काइ॥

इस सामरस्य की उपलब्धि हो जाने पर बुद्धि का आहंकारिक 'अध्यवसाय' तथा मन की संकल्प विकल्पात्मक वृतियां समाप्त हो जाती है। आगम संवादीसंतो के स्वर में अन्य देवताओं की उपासना से विरति तथा उक्त गंतव्य की उपलब्धि ही स्वामी की ओर से इन्हे निर्दिष्ट है। कहीं-कहीं तो संतों और इन जैन मुनियो की उक्तियां एक-दूसरे का रूपान्तर जान पड़ती है। नमक और पानी के एक ही दृष्टान्त से जो बात रामसिंह कहते है, वही कबीर भी।

जिमि लोण विलिज्जइ पाणियह चित्त बिलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवहा काह समाहि करिज्ज?

ठीक इसी की प्रतिध्वनि कबीर मे देखें—

मन लगा उनमन् सौं उनमन मनहि विलग।
लूंण विलगा पांणपा, पाणी लूण विलग॥

(२) वासना दमन की जगह वासना शोधन और उसकी सहजानंद मे स्वाभाविक परिणति के संकेत—

बौद्ध सिद्धो के समकालीन इन जैन संतो मे भी चरमावस्था के लिए 'सहजानंद' शब्द का किया गया प्रयोग मिलता है। संतों ने शतशः, सहस्रसः 'सहज' की बात कही

है। भारतीय साधना धारा मे जैन मुनियों के 'कृच्छ' के विपरीत ही 'सहज' साधना और साध्य की बात सभव है कि प्रचलित हुई हो। अध्यात्म साधना मे मन का एकाग्रीकरण विक्षेप मूल वासना या काषाय के शोषण से तो 'श्रमण' मानते ही थे, दूसरे प्रवृत्तिमार्गी आगमिक साधक ऐसी कुशलता सहज पा लेना चाहते थे कि वासनारूप जल में रहकर ही विपरीत प्रवाह मे रहना उसे आ जाय। साधको को यह प्रक्रिया दमन की अपेक्षा अनुकूल लगी। तदर्थ वासनाजन्य की अधोवर्ती स्थिति का उर्ध्वीकरण अगमित था। जैन साधकों के अपभ्रश काव्य मे सकेत खोजे जा सकते हैं—पर भाषाकाव्य मे कबीर बाद स्पष्ट कथन मिलने लगते है। जैन मरमी आनदघन की रचनाए साक्षी है। वे कहते है—

आज सुहागन नारी, अवधू आज सुहागन नारी।
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अंगचारी।
प्रेम प्रतीति राग रुचि रंगत, पहिरे झीनी सारी।
मंहिदी भक्ति रंग की रांची, भाव अंजन सुखकारी।
सहज सुभाव चूरी मै पहिनी, थिरता कंकन भारी।।
इत्यादि···

इन पंक्तियों मे क्या 'सतो' का स्वर नही है? सतो की भांति इन अपभ्रंश जैन कवियों मे भी 'सहज' शब्द का प्रयोग साधन और साध्य के लिए हुआ है। आनन्दतिलक ने 'आणंदा' नामक काव्य मे स्पष्ट कहा है कि कृच्छ साधना से कुछ नही हो सकता, तदर्थ 'सहज समाधि' आवश्यक है—

जापु जवइ बहु तव तवई तो विण कम्म हणोइ।
० ० ०
सहज समाधिहिं जाणियइ आणदा ने जिण सासणि सारु।

इसी प्रकार मुनि जोगीन्दु ने भी कहा है कि सहज स्वरूप में ही रमण करना चाहिए—

सहज सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु
(योगसार)

सहज स्वरूप मे जो रमता है—वही शिवत्व की उपलब्धि कर सकता है। छीहल ने तो चरमप्राप्य को 'सहजानद' ही कहा है—"हउ महजाणद सरूव सिहु" रामसिह तो सहावस्था की बात बार-बार कहते हैं।

इस प्रकार जैन धारा जिन बातों में अपना स्थान पृथक् रखती आ रही है—(१) परतत्व की द्वयात्मकता (२) द्वैत की ममस्तविध निषेध तथा (३) वासना शोधन का सहज मार्ग—उन आगमिक विशेषताओं का प्रभाव जैन अपभ्रश काव्यों मे उपलब्ध होता है। मध्यकाल की भाषाबद्ध अन्याग्य रचनाओं मे आगमसवादी सतो की पारिभाषिक पदावलियाँ इतनी अधिक उदग्र होकर आई है कि जैन कवियों या मुनियो का नाम हटा देने पर पर्याप्त भ्रम की गुंजाइश है।

इन महत्वपूर्ण प्रभावों के अतिरिक्त ऐसी कई और भी बातें है जिन्हें सतों के सदर्भ मे देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए—(१) पुस्तकी ज्ञान की निंदा (२) भीतरी साधना पर जोर (३) गुरु की महत्ता (४) बाह्याचार का खडन आदि।

(१) आगम 'बहिर्याग' की अपेक्षा 'अतर्याग' को महत्ता देते है और सैद्धान्तिक बोध की अपेक्षा व्यावहारिक साधना को भी। सैद्धान्तिक वाच्यबोध मे जीवन खपाने को प्रत्येक साधक व्यर्थ समझता है—यदि वह क्रिया के अग रूप मे नही है। सतो ने स्पष्ट ही कहा है—"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पडित भया न कोय"। परमात्म प्रकाश सार का काहना है—

सत्थु पढंतु विहोइ जडु जो ण हणोइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलक णावि मण्णइ परमप्पु।।

शास्त्रानुशीलन के बाद भी यदि विकल्प जाल का विनाश न हुआ तो ऐसा शास्त्रानुशीलन किस काम का? इसी बात को शब्दान्तर से 'योगसार' कार ने भी कहा है—

जो णवि जण्णइ अप्पु पर णवि परमाउ चएइ।
जो जाणव सत्थइं समल णहु सिव सुक्ख लहेइ।।

जिसने सकल शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके भी यह न जाना कि क्या उपादेय और हेय है—आत्मीय और परकीय है, सकीर्ण स्वपर भाव में व्यस्त रहकर जिसने परभाव का त्याग नहीं किया—यह शिवात्मक सुख की उपलब्धि किम प्रकार कर सकता है? इसी प्रकार दोहा पाहुड़कार का भी विश्वास है कि जिस पंडित शिरोमणि ने पुस्तकीय ज्ञान मे तो जीवन खपा दिया, पर आत्म लाभ

न किया, उसने कनक को छोड़कर भूसा ही कूटा है।

पंडिल पंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढ़ोसि॥

(२) पुस्तकी ज्ञान की अवहेलना के साथ संतो का दूसरा सवादी स्वर है—भीतरी साधना या अंतर्याग पर बल। सिद्धो, नाथो और सतो की भांति इन जैन मुनियो ने भी कहा है कि जो साधु बाह्य लिंग से तो युक्त है किंतु आंतरिक लिंग मे शून्य है वह सच्चा साधक तो है ही नही, विपरीत इसके मार्गभ्रष्ट है। सच्चा लिंग भाव है—भाव शुद्धि से ही आत्म प्रकाश सम्भव है। मोक्ख पाहुड मे कहा गया है—

बाहिर लिंगेण जुदो अब्भंतरलिंग रहिय परियम्मो।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्ख पहविणासगो साहू॥

इसी बात को शब्दान्तर से कुन्दकुन्दाचार्य ने 'भाव पाहुड़' मे भी कहा है—

भावो हि पढमलिंगं न दिव्वलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणाबिति॥

(३) अन्तर्याग पर बल ही नही, उसे विच्छिन्न मूल वहिर्याग, वाह्यलिंग अथवा बाह्याचार का उसी आवेश और विद्रोह की मुद्रा में इन जैन मुनियों ने खण्डन भी किया है। आनन्दतिलक ने स्पष्ट ही कहा है कि कुछ लोग या तो बालों को लुचवाते है अथवा व्यर्थ मे वहन करते है, परन्तु इन सबका फल जो आत्मबिन्दु का बोध है, उससे अपने को वचित रखते है—

केइ केस लुचावहिं, केइ सिर ज भारू।
अप्पबिंदु ण जाणहि, आणंदा। किम जावहि भवपारू?

मुनि योगीन्दु ने भी कहा है कि जिन लोगों ने केवल जिनवरों का बाहरी वेष मात्र अपना रखा है, भस्म से केश का लुचन किया है किन्तु अपरिग्रही नही हुआ—उसने दूसरों को नही अपने को ठगा है। इसी प्रकार इन मुनियो ने तीर्थभ्रमण तथा देवालय गमन का भी उग्र स्वर मे विरोध किया है। मुनि योगीन्दु ने तीर्थ भ्रमण के विषय मे कहा है—

तित्थइं तित्थु भमंताह मूणह मोक्ख व ण होइ।
णाण वि वज्जिउ जेण जिय मुनिवरु होइ ण सोइ॥

देवालगमन तथा मूर्तिपूजा के विपक्ष के उद्‌गार देखें—

हूं पत्तिम पाणिउ दब तिल सब्बइ जाणि सवण्णु।
जं पुण मोक्ख वहं जाइवउ तं कारणु कुछ अण्णु।
पत्तिय तोड़ि म जोइया फलहि ज इत्थु म वाहि।
जसु कारणि तोडेहि तुहु सोउ एत्थु चडाहि॥

देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इधय होसइ सव्वु॥

इत्यादि...

इन पंक्तियों में स्पष्ट ही कहा गया है कि देवालय-गमन या तीर्थभ्रमण से कुछ नही होने का—जब तक मन में काषाय शेष है। मनोगत काषाय का संवरण और निर्जरण प्रमुख वस्तु है।

(४) चौथी समानता संतों, सिद्धों और रहस्यवादी नाथों से आगमिक परम्परा से प्रभावित इन जैन मुनियो की यह है कि ये भी वहिर्मुखी साधना से हटकर शरीर के भीतर की साधना पर बल देते है। देवसेनाचार्य ने 'तत्व-सार' में स्पष्ट कहा है—

थक्के मण संकप्पे रुद्धे अव खाण विषयवावारे।
पगटइ बंमसरूवं अप्पा झाणे जो ईणं॥

आत्मोलब्धि करनी है तो मनोदर्पणगत काषाय मल का अपवारण आवश्यक है। रत्नत्रय ही मोक्ष है—किन्तु उसका पोथियों मे नही, स्वसंवेदन से ही सवेतवा संभव है। स्व-संवेदन अपने से ही अपने को जानना है। इसलिए उक्त दोहे में कहा गया है कि यह उक्तसंवेन ही है जिसके द्वारा मन के संकल्प मिट जाते है, इन्द्रियां विषयों से उपरत हो जाती है और आत्मध्यान से योगी अपना स्वरूप जान लेता है।

(५) पाँचवा साम्य है—गुरु माहात्म्य या महत्व का। आगमसम्मत धारा चूंकि साधन को सर्वाधिक महत्व देती है, अतः निर्देशक के अभाव मे वह कार्यान्वित हो नही सकती। संतों ने 'गुरु' को परमात्मा का शरीरी रूप ही कहा है। जैन मुनियो मे भी गुरु महिमा का स्वर उतना ही उदग्र है। मुनि रामसिंह ने पाहुण दोहा मे गुरु की वंदना की है और कहा है—

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरह जो दरिसावइ भेउ॥

अर्थात् गुरु दिनकर, हिमकर, दीप तथा देव सब कुछ है। कारण, वही तो आत्मा और अनात्मा का भेद स्पष्ट करता है। यह सद्‌गुरु ही है जिसके प्रसाद से केवल ज्ञान का स्फुरण होता है उसी की प्रसन्नता का यह परिणाम है कि साधक मुक्ति रूपी स्त्री के घर निवास करता है।

केवलणाणवि उपज्जइ सद्‌गुरु वचन पसावु।

निष्कर्ष यह कि अपभ्रंशबद्ध जैन काव्यो मे उस स्वर का स्पष्ट ही पूर्वाभास उपस्थित है जो सतों मे लक्षित होता है। □□□

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

मालवा के परमार नरेश और जैन धर्म

□ डा० शिवकुमार नामदेव, डिण्डौरी (मण्डला)

मालवा के परमार राजवंशीय शासकों ने प्राचीन भारतीय इतिहास मे एक महत्वपूर्ण भाग का अभिनय किया और किसी समय मे उच्च चक्रवर्ती पद को भी प्राप्त किया। कभी वे मालवा के अधिपति के रूप मे और कभी अवंती नरेश के नाम से अभिहित किये जाते थे। परमार नरेश उज्जैन और धारा के शासकों के नाम से भी सुविख्यात थे। परमार राजवंशीय नरेशों की प्रारम्भिक राजधानी उज्जयिनी थी परन्तु भोज के काल मे उनकी राजनीतिक राजधानी का केन्द्र धारा नगरी हो गई। अपने उत्कर्ष के काल मे उनके राज्य की सीमा उत्तर मे वर्तमान कोटा और बूंदी, पूर्व मे विदिशा, होशंगाबाद एव सागर के भाग एवं दक्षिण मे खान्देश प्रदेश एवं गोदावरी क्षेत्र तक के भूभाग परमार नरेशो के अधीन थे।

मध्य भाग मे स्थित होने के कारण परमार राज्य का सपर्क उत्तर से लेकर दक्षिण तक तथा पूर्व से लेकर पश्चिम तक के अनेक समकालीन राज्यो मे हुआ। इससे न केवल मालवा की सस्कृति की श्रीवृद्धि हुई अपितु परमारकालीन कला ने अन्य राज्यों की कला तथा सस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला।

परमार काल मे मालवा मे जैन धर्म का पर्याप्त समुन्नत विकास हुआ। यद्यपि परमार नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुसरणकर्ता थे, परन्तु उन्होने जैन धर्म के उत्थान व प्रसार मे अभूतपूर्व योगदान दिया। परमार नरेशो ने जैन विद्वानों को राजाश्रय प्रदत्त किया। उज्जैन एव धारा नगरी जैन आचार्यों के स्थायी स्थान बने और जैनाचार्यो ने बहुत बड़ी सख्या म प्रजा को जैन धर्म की ओर आकर्षित किया। इसी काल मे अनेक जैन तीर्थों की भी नीव पड़ी और जैनाचार्यों ने पूर्व परम्परा से चले आए हुए स्थानों की महत्ता बताई तथा वहां पर तीर्थों का शुभारभ हुआ।

परमार नरेश वाक्पति मुंज ने जैन आचार्य अमितगति, महाक्षेत्र, धनपाल व धनेश्वर आदि को राजाश्रय प्रदान किया। अमितगति बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान थे। जैन धर्म के अतिरिक्त सस्कृत के क्षेत्र मे भी उनका ऊंचा स्थान माना जाता है। इनका 'सुभाषित रत्न संदोह' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। अमितगति माधवसेन का शिष्य था जिसका गुरु माथुरसंघ के जैन साधुओ का प्रधान नेमिषेण था। जैनाचार्य धनपाल को जैन ग्रन्थों से राजा भोज का समकालीन माना गया है। परन्तु धार के इतिहास में इनको राजा मुंज का समकालीन तथा उनका कुल पुरोहित बताया गया है। सस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे इस सम्प्रदाय में इन्हे इनके भाई ने दीक्षित किया था। इनका छोटा भाई शोभन भी जैनाचार्य था।

परमार नरेश भोजदेव ने प्रभाचन्द्र मुनि को सम्मान प्रदान किया। दिगम्बराचार्य श्री शान्ति सेन ने भोज की सभा मे सैकड़ों विद्वानों से वादविवाद करके उन्हे पराजित किया था। 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी मे विशालकीर्ति नामक दिगंबराचार्य के शिष्य मदनकीर्ति ने परवादियों पर विजय पाकर 'महाप्रमाणिक' की पदवी प्राप्त की थी। सूराचार्य व देवभद्र ऐसे जैनाचार्य थे जिनका भोज के दरबार मे आदर किया जाता था। साथ ही नयनंदि, जिनवर सुरि अन्य जैन कवि थे, जिन्हे आदर प्राप्त था।

ब्राह्मण धर्म के साथ ही साथ जैन धर्म भी मालवा मे फला-फूला। ११वी शताब्दी ई० के प्रारम्भिक भाग मे महान जैन श्वेताम्बर गुरु अभयदेव परमार राज्य के खान्देश मे थे। उन्होंने जैन सिद्धान्तों का प्रचार किया और अनेक लोगों को इस धर्म में दीक्षित

किया। इस भू-भाग पर अनेक जैन देवालयों का निर्माण हुआ। ११वीं शताब्दी ई० के मध्य में निर्मित किये गए जैन देवालय निमाड़ जिले के ऊन में भी पाये गयेहै। इससे यह प्रमाणित होता है कि उस काल में जैन धर्म न केवल खान्देश तक ही सीमित था अपितु परमार राज्य की सीमाओं के मध्य प्रदेश मे और पूर्व मे भी उसका प्रसार था।

विन्ध्याचल पर्वत के उत्तर मे भी जैन धर्म की अत्यधिक प्रगति हुई थी। जैनाचार्यों ने परमार नरेशों को सदा ही प्रभावित करने का प्रयास किया। राजा नरवर्मन जैन धर्म के प्रति सद्भावना रखते थे। वे जैन गुरु वल्लभ के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। परमार नृपति विन्ध्य वर्मन जैनियों का बड़ा आदर करता था। जैन व्याकरण एव जैन सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तों के महान विद्वान् पडित धारासेन के शिष्य महावीर को विन्ध्यवर्मन ने संरक्षण प्रदान किया था। इसी काल में आशाधर अपने सपूर्ण परिवार के साथ आकर मालवा मे बस गया और महावीर को अपना पथप्रदर्शक बनाया। विन्ध्यवर्मन का उत्तराधिकारी सुभट वर्मन जैन धर्म का विरोधी था। अर्जुन वर्मन के सिंहासनारोहण के पश्चात् मालवा मे पुनः जैन धर्म की प्रगति हुई। आशाधर ने लिखा है कि अर्जुन वर्मन का प्रदेश जैन श्रावकों से भरा था और वह स्वय जैन धर्म के पक्ष का प्रसार करने के लिए नलकच्छपुर नगर मे रहता था। उसने जैन धर्म सप्रदाय के विभिन्न पक्षों का निरूपण करने के लिए अनेक ग्रथो रचना की थी। जैन धर्म सुदीर्घ काल तक मालवा मे फलता-फूलता रहा।

जैन कला एवं स्थापत्य को परमार काल मे चरमोत्कर्ष पर पहुंचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसका कारण यह भी है कि भागवत धर्म के अनुयायी होने के बावजूद उन्होने जैन धर्म के प्रति न केवल उदार दृष्टिकोण अपनाया बल्कि उनके काल मे अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ और जैन धर्म के उन्नयन मे उन्होने गहरी अभिरुचि व्यक्त की।

परमारों के प्रतापी शासनकाल मे अनेकानेक भव्य एवं विशाल देवालयो का निर्माण हुआ जिनके कुछ उदाहरण आज भी उपलब्ध है। सतपुड़ा पर्वत श्रेणी के उत्तरी अंतिम छोर पर निमाड़ के मैदानी क्षेत्र में ऊन नामक एक ऐतिहासिक स्थान है जो जिला मुख्यालय खरगोन से लगभग १६ कि०मी० की दूरी पर अवस्थित है। परमार वंश के शासनकाल मे यह एक महत्वपूर्ण नगर एवं वास्तु सक्रियता का एक मुख्य केन्द्र था। इसके प्राचीन गौरव के साक्ष्य स्वरूप यहां पर अब भी अनेक जैन एवं हिन्दू मदिर वर्तमान है। यहां के मंदिरों की वास्तुशैली खजुराहो-समूह के सदृश है: यहा के एक मन्दिर की दीवाल पर परमार नरेश उदयादित्य का एक अभिलेख है।

ऊन मे दो महत्वपूर्ण जैन मदिर है—(१) चौबार डेरा क्रमाक २ तथा (२) शातिनाथ।

चौबारडेरा क्रमाक २ एक प्राचीन जैन मन्दिर है। इसका आकार वर्गाकार है और इसके मध्य आठ स्तम्भों पर एक गुम्बज है। इसमे चार द्वार मार्ग है जिनमे से एक गर्भगृह को जाता है। गर्भगृह मे दो विशाल जैन मूर्तियां हैं। इनमे से एक मूर्ति तीर्थंकर शातिनाथ की है। इसका स्थापना काल माघ शुक्ल ७ स० १२८२ वि० मूर्ति पर अंकित है। दूसरी मूर्ति का स्थापनाकाल स० १२६३ वि० है।

सड़क के दक्षिण की ओर कुछ दूरी पर एक टेकड़ी के ऊपर श्री शातिनाथ मदिर है, जो ग्वालेश्वर मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। इसका आमलक शिला एव कलश नष्ट हो गए है। मण्डप चार गुम्बदयुक्त एक वर्गाकार कक्ष है। इसमें दालान नहीं है। गर्भगृह सभा मण्डप से लगभग १० फुट नीचा है। गर्भगृह से मडप में आने के लिए सीढ़ियां बनी हुई है। मुख्य शिखर के चारों ओर उसी प्रकार के शृंग है जैसे कि खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर मे है। गर्भगृह के अन्दर तीन दिगम्बर जैन प्रतिमाओ की एक पंक्ति एक पादपीठ पर खड़ी है। उनमें से भगवान शातिनाथ की प्रतिमा १८' ऊंची है जिनके दोनों ओर अरहनाथ तथा कुन्थनाथ की प्रतिमाएं कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़ी है। मध्य की प्रतिमा पर स्थापना काल ज्येष्ठ शुक्ल १३ सं० १२६३ अंकित है।

भोपाल से लगभग २५ कि० मी० की दूरी पर स्थित समसगढ़ नामक एक छोटा-सा ग्राम है। ग्राम के बायें अंचल में अनेक पुरातत्वीय अवशेष मंदिरों के भग्नावशेषों

के रूप में मौजूद हैं जिनमें प्राचीन जैन मन्दिर की जगती एवं अधिष्ठान पर पुनर्निमित जैन मन्दिर एव उसके अहाते मे रखी हुई प्राचीन जैन प्रतिमायें एवं स्थापत्यखड है। स्थापत्य विद्या एव मूर्ति शिल्प के आधार पर प्राचीन जैन मन्दिर लगभग १३वी शती का आंका जा सकता है। इस स्थान का सम्बन्ध धाराधिपति भोज द्वारा निर्मित उस प्राचीन जैन मन्दिर से रहा होगा जो भोजपुर मे आज भी पुनर्निमित अवस्था मे खड़ा है।

भोजपुर से लगभग १० किलोमीटर की दूरी पर आशापुरी नामक ग्राम है। यहा परमारकालीन मंदिरों के कई स्थलों पर अवशेष उपलब्ध है। इन्हीं स्थलो मे एक समूह जैन मन्दिर के अवशेष का है जो ग्राम की पश्चिम दिशा पर कुछ ही दूरी पर है। मंदिर के अवशेषों में मात्र जगती शेष रह गई है। इसी जगती पर यत्र-तत्र बिखरी हुई लगभग दो दर्जन जैन प्रतिमायें पड़ी है जिसमे सुपार्श्व-नाथ जैन चतुष्टिका, ऋषभनाथ, गोमेद अम्बिका, अम्बिका तथा अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमायें सम्मिलित है। उन्हें प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से ११ १२वी शती का आका जा सकता है।

नेगावर से ३३ मील पश्चिम की ओर एव इन्दौर से ४६ मील पूर्व में स्थित विजयवाड़ा में महान जैन मन्दिर पूर्ण ध्वस्तावस्था में है। इसमें तीन भीमाकार दिगम्बर जैन प्रतिमाएं सर्वाधिक आकर्षक हैं। इनमें से एक के पादपीठ पर संवत १२३४, तदनुसार ११७७ ई० उत्कीर्ण है।

परमार राजवंश के उत्कर्ष काल में मालवा के लोगों ने भवन निर्माण सम्बन्धी कितनी दक्षता प्राप्त की थी, यह उपर्युक्त विवरण मे स्पष्ट हो जाता है। इसी काल में जैन शिल्प कला का भी बहुत उत्कर्ष हुआ। विवेच्य युगीन जैन प्रतिमायें अनेक स्थलों से उपलब्ध हुई है। भोजपुर से तीन मील की दूरी पर आशापुरी नामक ग्राम में शातिनाथ की प्रतिमा सुरक्षित है। सतपुड़ा पर्वत श्रेणियों के सिरे के निकट निमाड़ के मैदान में स्थित ऊन नामक ग्राम मे स्थित जैन मन्दिरो मे जैन धर्म की अनेक सुन्दर मूर्तियां स्थापित है। केन्द्रीय संग्रहालय, इंदौर में परमार युगीन अनेक जैन प्रतिमाये सुरक्षित है। ब्राह्मण मूर्तियो की भांति यद्यपि वे विविध प्रकार की नही हैं, परन्तु वे लेखयुक्त है। इन प्रतिमाओ में आदिनाथ, श्रेयांसनाथ, धर्मनाथ, शातिनाथ, नेमिनाथ, नमिनाथ एव महावीर की प्रतिमाये उल्लेखनीय है।

मध्य प्रदेश के उज्जैन जिले की महीदपुर तहसील से पूर्व दिशा में १५ कि० मी० दूर झारड़ा ग्राम अपने जैना-वशेषों के कारण कला जगत में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। यहां से उपलब्ध वि० स० १२०८ के अभिलेख वाली रोहिणी की एक कलात्मक प्रतिमा २' ५' ऊंची और १' ७" चौड़ी है। १६ विद्या देवियों में रोहिणी प्रसिद्ध है। प्रतिमा का वाहन गाय है। अतः यह श्वेताम्बर परम्परा में निर्मित है। चतुर्भुजी रोहिणी की इस प्रतिमा के ऊर्ध्व वाम हस्त में कलश एवं दायें हाथ में शख, अधो वाम हस्त में कमल एवं चौथा हाथ भग्न है। प्रतिमा एक विशिष्ट मूर्तिकला का उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसमें वाहन के आधार पर जैन देवी श्वेताम्बरी है परन्तु आयुध के आधार पर दिगबर है। सभवतः यह परमार वंश के महान यशस्वी सम्राट् राजाधिराज भोज के समय संस्थापित धार्मिक समन्वय के कर्तृत्व द्वारा प्रभावित थी। देवी की शरीर यष्टि विशुद्ध रूप से परमार शिल्प से अनु-प्राणित है।

यहां से उपलब्ध दूसरी महत्वपूर्ण प्रतिभा चक्रेश्वरी की है। परमार मूर्तिकला में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की शासन देवी चक्रेश्वरी परमार मूर्तिकला में विशेष रूप से अंकित मिलती है। झारड़ा से उपलब्ध चक्रेश्वरी की इस प्रतिमा में देवी गरुड़वाहना और अष्टभुजी है। प्रतिभा के चक्र, पाश, बाण, वरद, अंकुश, वज्र आयुध सुस्पष्ट है, एवं दो हाथों के आयुध भग्न है। इस प्रतिमा पर अंकित अभिलेख अस्पष्ट है। अभिलेख के आधार पर इसका काल १३वी शताब्दी ई० निर्धारित किया जा सकता है।

सोलह विद्या देवियो में प्रसिद्ध अच्युता की यहा से उपलब्ध काले स्लेटी प्रस्तर की इस प्रतिमा में देवी को अश्वारूढ दिखाया गया है। यह प्रतिमा ५' ४" लंबे एव ३' ७" चौड़े पाषाण फलक पर उभारी गई है। दो हाथो से नमस्कार मुद्रा की प्रज्ञप्ति व दाये हाथ में खड्ग तथा

(शेष पृष्ठ १३ पर)

पंच परमेष्ठी और णमोकार मंत्र

□ डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को पंच परमेष्ठी कहते है। जैन शासन उनकी महिमा से समन्वित है। उन्हे अधिष्ठातृ देव माना जाता है। साधु से अरिहन्त तक का क्रम उत्तरोत्तर अधिकाधिक आत्म-शुद्धि की दृष्टि से किया गया है। सिद्ध के पूर्ण पावन होने पर भी, लोकोपकार की दृष्टि से अरिहन्त को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। आठो कर्मों को जीतने से सिद्धों को पूर्ण शाश्वत आत्म-सुख प्राप्त हो जाता है। वे "लोयग्गणि-वासिणो", "लोयसिहरत्थो" और "लोकत्रयशिखरपुरी-वासिनः" कहलाते है। इसके विपरीत, अरिहन्त केवल चार घातियां कर्मों का क्षय कर पाते है। अतः चार अघा-तिया कर्मों के चुकने तक उन्हे इस संसार मे रुकना होता है। इस बीच उन्हे समवशरण की विभूति प्राप्त हो जाती है और उसके माध्यम से वे अपनी दिव्य ध्वनि का प्रसार करते है, जिससे संसार का भला होता है। जैनाचार्यो ने जागतिक उपकार को ही मुख्यता दी है, इसी कारण सिद्ध से पूर्व अरिहन्त को मान्यता मिली है। इसी सन्दर्भ मे 'षट् खण्डागम' का एक उद्धरण महत्वपूर्ण है—

"असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो न भवेदस्मदादीनां,
संजातश्चैतद् प्रसादादित्युपकारापेक्षया
वादार्हन्नमस्कारः क्रियते।"

इसका अर्थ है कि यदि अर्हन्त न होते तो हम को आप्तागम में कहे हुए पदार्थों का अवगम न हो पाता। अर्हन्तो के प्रसाद के कारण ही हम प्रामाणिक श्रुत को प्राप्त कर सके है, अतः उन्हे आदि मे नमस्कार करना उचित ही है।

यद्यपि आत्मशुद्धि की दृष्टि से साधु सबसे नीचे है और सिद्ध सबसे ऊपर, किन्तु जैनाचार्यों ने पाँचों को समान रूप से वन्दनीय कहा है। शायद यही कारण है कि पांचों का सम्गुम्फन एक ही सूत्र में किया गया है। वह सूत्र है—"णमो अरिहन्ताणं" मन्त्र। उसमें पंच परमेष्ठी को समान रूप मे नमस्कार किया गया है। मन्त्र होने के कारण यहाँ नमस्कार का अर्थ है—साक्षात् करना। तभी मन्त्र की सार्थकता है। साक्षात का अर्थ है—अनुभूति की गहराइयो में स्पष्ट दर्शन।

जैन परम्परा मे यह मन्त्र, सृष्टि की भाँति ही अना-दिनिधन माना जाता है। भगवान महावीर ने १४ पूर्वों की विद्या अपने गणधरो को स्वयं प्रदान की थी। पूर्व विद्या का अर्थ है, भगवान महावीर से पहले की विद्या, जो श्रवण कर-करके सतत चली आ रही थी। हो सकता है कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय मे भी १४ पूर्व पहले से आई हुई विद्या के रूपमे प्रतिष्ठित हों। जो कुछ हो, १४ पूर्वों मे एक पूर्व था – विद्यानुवाद। उसका प्रारम्भ णमोकार मन्त्र से हुआ था, अर्थात् पंच परमेष्ठी के नमस्कार से हुआ था। विद्यानुवाद एक अद्भुत मन्त्रग्रन्थ था। आज वह विलुप्त माना जाता है, किन्तु कहा जाता है कि उसकी बिखरी सामग्री का संकलन मुनि सुकुमार सेन (७वी शती ईसवी) के विद्यानुशासन मे हुआ है। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्र-भण्डारो मे मौजूद है। श्री मोहनलाल भगवानदास झावेरी ने ऐतिहासिक दृष्टि से जैन मन्त्र शास्त्र का आरम्भ ईसा से ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय मे स्वीकार किया है। झावेरी की इस मान्यता के सम्बन्ध मे डा० आल्तेकर ने लिखा है।—

"Mr. Jhaveri thinks that Mantrashastra among the Jains is also of hoary antiquity. He claims that its antiquity goes back to the days of parsuvnatha, the 23rd Tirthankata, who flourished about 850 B. C."

उपलब्ध पुरातात्विक आधार पर णमोकार मन्त्र का

प्राचीनतम उल्लेख हाथीगुम्फा शिलालेख में प्राप्त होता है। उसकी प्रथम पंक्ति है—"नमो अरहंतानं ॥नमो सवसिधानं॥।" श्री बी० ए० स्मिथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "Early History of India" में इस शिलालेख का निर्माता कलगाधिपति सम्राट् खारवेल को ईसा से १७० वर्ष पूर्व माना है।

जहाँ तक लिखित साहित्य का सम्बन्ध है, आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि का षट्खण्डागम सबसे पहला ग्रंथ है, जिसका आरम्भ णमोकार मन्त्र के मंगलाचरण से हुआ है। षट्खण्डागम श्री वीरसेनाचार्य की संस्कृत टीका के साथ, डा० श्री हीरालाल जैन के सम्पादन से, अमरावती से, वि० सं० १९९६ में प्रकाशित हो चुका है। पुष्पदन्त भूतबलि का समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है।

णमोकार मन्त्र अपूर्वशक्ति का प्रतीक है। उसके उच्चारण से, ध्यान से इहलौकिक वैभव तो मिलते ही हैं, पारलौकिक सिद्धि भी प्राप्त होती है। भद्रबाहु ने 'उवसग्गहर स्तोत्र' में लिखा है -

तुह सम्मत्ते लद्धे चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं जीवा अयरामरं ठाणं॥

अर्थ - पंचनमस्कार मंत्र से चिन्तामणि और कल्पवृक्ष से भी अधिक महत्वशाली सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, जिसके कारण जीव को मोक्ष मिलता है।

आचार्य कुन्दकुन्द को विश्वास है कि मंत्र से भव-भव में सुख प्राप्त होता है। उनका तात्पर्य केवल इहलौकिक सुख से ही नहीं अपितु पारलौकिक सुख से भी है। उनका कथन है—

अरुहा सिद्धायरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठि।
एदे पंच णमोयारा भवे-भवे मम सुहं दिंतु॥

अर्थ—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु अर्थात् पंचपरमेष्ठि मुझे भव-भव में सुख देवें। भव भव लगा देने से इहलौकिक सुख स्वतः ही आभासित होता है और सुख का वास्तविक अर्थ तो आत्मब्रह्म का परमानन्द है ही।

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद ने णमोकार मन्त्र को प्रथम मंगल कहा। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि यह मन्त्र सब पापों को नष्ट करने वाला है और जीवों का कल्याण करने में पूर्ण रूप से सक्षम है—

एष पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशिनः।
मंगलानां च सर्वेषां प्रथमं मंगलं भवेत्॥

मुनि वादिराज (११वीं शताब्दी विक्रम) ने एकीभाव स्तोत्र में लिखा है—"जब पापाचारी कुत्ता भी णमोकार मन्त्र को सुनकर देव हो गया, तब यह निश्चित है कि उस मन्त्र का जाप करने वाला इन्द्र श्री को प्राप्त कर ही सकता है।" श्री जिनप्रभ सूरि ने "पंचपरमेष्ठिनमस्कार कल्प" में लिखा है—'इस मंत्र की आराधना करने वाले योगिजन त्रिलोक के उत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ तक ही नहीं, सहस्रों पापों का सम्पादन करने वाले और सैकड़ों जन्तुओं की हत्या करने वाले तिर्यंच भी इस मन्त्र की भक्ति से स्वर्ग में पहुंच जाते हैं। उनका कथन है—

एतमेव महामन्त्रं समाराध्येह योगिनः।
त्रिलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमंपदम्॥
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यंचोऽपि दिवंगतः॥

जैनाचार्यों ने णमोकार मन्त्र की शक्ति को देवता कहा है। उसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों ही प्रकार की शक्तियाँ सन्निहित हैं। वे मोह के दुर्गमन को रोकने में पूर्ण रूप से समर्थ हैं—

स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनम्।
पायात्पंचनमस्क्रियाक्षरमयी सराधना देवता॥

इस मन्त्र की विशेषता है—पांच को एक स्थान पर समवेत करना। पांच का समवेत रूप ही मन्त्र है। यदि इनमें से एक भी हटा दिया जाये तो यह मन्त्र शक्तिहीन हो जायेगा। यह आत्मशुद्धि का एक सम्गुम्फित रूप है। सीढ़ी के रूप में यदि एक भी कम कर दी जाये तो ऊपर जाने का मार्ग भंग हो जाता है। इस सीढ़ी में पांच आधार हैं और पांचों अनिवार्य। अर्हन्त और सिद्ध जितने अनिवार्य हैं, उतने ही साधु भी। मन्त्र की दृष्टि से सभी समरूप में मूल्यवान हैं, अर्थात् मन्त्र की सिद्धि पांचों के समवेत रूप में है, पृथक्करण में नहीं। यहाँ किसी एक में ब्रह्मशक्ति केन्द्रित नहीं है। "एकोब्रह्म" से ही लोक में

सर्वसत्ता सम्पन्न "राजा" का प्रादुर्भाव हुआ। दुनियावी राजा अपने को ब्रह्मा का एकमात्र प्रतिनिधि कहने लगे। उसर राजा ने किसी को अपना सिर ऊपर नही उठाने दिया। एक ब्रह्म के एकमात्र प्रतिनिधि इस राजा नाम के जीव ने सारी दुनिया को सिसक-सिसक कर जीने पर विवश कर दिया और वह भाग्यवाद के झांसे मे ऐसी फंसी कि आज तक उबर नही पायी। जैनाचार्यों ने न तो ब्रह्म को एक माना और न उसके प्रतिनिधि की कल्पना ही की। उसने लोकतन्त्र को प्रेरणा दी।

पचपरमेष्ठी नमस्कार मत्र पर अनेकानेक ग्रथो और स्तुति-स्तोत्रो की रचना होती रही। ईसा की छठी शताब्दी के श्री विद्यानन्द पात्रकेशरी ने 'बृहत्पचनमस्कार स्तोत्र' और चौदहवी शताब्दी के श्री जिनप्रभसूरि ने 'पंचपरमेष्ठियनमस्कार कल्प' जैसे बड़े-बड़े स्तोत्रो और कल्पो की रचना की। प्राकृत भाषा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने "दशभक्ति" की रचना की थी। पचगुरुओ के चरणो मे अपने भाव सुमन चढ़ाते हुए उन्होने लिखा है—

झायवि पंचवि गुरवे मगलचउसरण लोयपरियरिए।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायरे वीरे॥

अर्थ—पंचपरमेष्ठी उत्तम है, वीर है, नर-सुर तथा विद्याधरों से पूज्य है। ससार के दुखाभिभूत प्राणियो के लिए वे ही एकमात्र शरण है। उनका स्वभाव मंगलरूप है।

प्राकृत का ही एक अन्य ग्रंथ है—भगवती आराधना। रचयिता थे प्रसिद्ध आचार्य शिवार्यकोटि। उन्होंने लिखा है—"जो पुरुष पंचपरमेष्ठी में भक्ति नही करता, उसका संयम धारण करना, ऊसर खेत मे बीज बोने के समान है। पंचपरमेष्ठी की भक्ति के बिना यदि कोई अपनी आराधना चाहता है, तो वह ऐसा ही है, जैसे बीज के बिना धान्य की इच्छा करना और बादल के बिना पानी चाहना।

तेसिं आराहण्णा, यगाण ण करेज्ज जो णरो भत्ति।
धत्ति पि सजम तो, सालि सो ऊसरे ववदि॥५३॥
बीएण विणा सस्सं, इच्छदि सो वासमब्भएण विणा।
आराधणमिच्छन्तो, आराधणभत्तिमकरन्तो॥५४॥

भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण मे लिखा है—

"पंचब्रह्ममयैर्मन्त्रैः सकलीकृत्यनिष्कलम्। परं तत्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्मतत्वबित्।' अर्थात् जो योगी पचनमस्कार मन्त्र के द्वारा परमतत्व परमात्मा का ध्यान करता है, वही ब्रह्मतत्व को जान पाता है। आचार्य शुभचन्द्र का 'ज्ञानार्णव' मे कथन है कि पचपरमेष्ठी की स्तुति करने से ही नित्य परमानन्द प्राप्त होता है। 'उपदेशरसायनराम' मे श्री जिनदत्तसूरि ने कहा है कि जो प्रतिदिन पंचपरमेष्ठियो का स्मरण करता है, उसकी धार्मिक इच्छाओ को शासन देवता प्रसन्न होकर पूरा करते है—

निच्चु वि सुगुरु देवपयभत्तह, पणपरमिट्ठि सरंतहु संतहं।
सासणसुर पसन्न ते भव्वइं, धम्मियकज्ज पसाहहि सव्वइं॥

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्य सैद्धान्तिक दृष्टि से पचपरमेष्ठी को अनादिकालीन मानते है। ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी मान्यता के प्रमाण ईसा से ८५० वर्ष पूर्व तक के मिलते है। इसका अर्थ हुआ कि तीर्थंकर महावीर के पहले से ही पचपरमेष्ठी के चरणो में श्रद्धा-पुष्प चढ़ाये जाते थे। पुरातात्विक रूप से सम्राट् खारवेल का शिलालेख उनका मानस्तम्भ ही है। इस सबके बीच उनकी प्राचीनता निर्विवाद और प्रामाणिक है। जहा तक आज उनकी मान्यता का सम्बन्ध है, वह सार्वभौम है—जैसी श्वेताम्बरों मे, वैसी ही दिगम्बरो में। कोई तरतमांश नही है। वे एकता के प्रतीक है, अत. आज भी बिखराव को समेटकर एक सूत्र मे बाधने की उनमे क्षमता है। माला के टूटे मोती फिर एक माला के रूप मे सजाये जा सकते है, यदि जैन लोक पचपरमेष्ठी की सार्वभौमिकता पर ध्यान दे।

साहित्य के पृष्ठो पर सूक्ष्म भावनाओं तक के रंग निर्धारित किए गए है, तो वहां पंचपरमेष्ठी के रगो की भी बात मिली। जैन ग्रथ 'बृहद्द्रव्यसंग्रह" मे पाच मूल वर्ण माने गये है—"श्वेतपीतनीलारुणकृष्णसज्ञा: पचवर्णा:।" इनमे श्वेत रग क्षीणलेश्या और पूर्ण आत्मशुद्धि का प्रतीक है। लेश्या और कर्मों के क्षीण हो जाने पर ही आत्मा नितान्त पावन, अनन्तदर्शन, ज्ञान और बल-युक्त हो पाती है। लाल रग मगल का द्योतक है, शायद इसी कारण विवाहादि के अवसरों पर लाल वस्त्र धारण करना सौभाग्य का चिह्न समझा जाता है। प्राकृत का

इन दो पंक्तियों से यही अर्थ स्पष्ट होता है—

सेद वण्णो भाणं लेस्सा य सेसकम्मं च।
अरुहाणं इहि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ॥

—पंचास्तिकाय, प्रथमखण्ड, पृष्ठ ६

'मानसार' स्थापत्य एव मूर्तिकला का सुप्रसिद्ध ग्रथ है। इसकी रचना पांचवीं शती मे हुई थी। इसमे पंच-परमेष्ठी की मूर्तियों का रग निर्धारित किया गया है। पंचपरमेष्ठी में प्रत्येक का पृथक् रग है। अर्हन्त स्फटिक मणि के समान श्वेताभ, सिद्ध अरुणाभ, आचार्य पीताभ, उपाध्याय शस्य-श्यामल एवं साधु नभस्तल के समान नीलाभ है। यहा उपाध्याय का शस्य श्यामल रंग साभिप्राय है। पृथ्वी शस्य-श्यामला कही जाती है। धान्य की लहराती बालें और उससे सुशोभित धरणी माँ, वैसे ही शस्य-श्यामल है उपाध्याय परमेष्ठी। ससार के प्राणियो के प्रति ममता से भरा हृदय और उन्हे अक्षर रूपी धान्य से प्राणवन्त बनाने का अदम्य उत्साह, उपाध्याय का अपना सहज स्वभाव है। इसी कारण उनका शस्य-श्यामल रग सार्थक है। यदि पृथ्वी शरीर का पोषण करती है तो उपाध्याय मन और मस्तिष्क का। साधु को नभस्तल के समान नीलवर्ण दिया गया है, वह उचित ही हैं। साधु वही है जिसका दृष्टिकोण नभ के समान विस्तृत और व्यापक हो। आकाश नि:सीम है, वह किसी सीमा में बंधता नहीं। साधु भी कोई घेरा नहीं मानता। वह मुक्त होता है, नितान्त मुक्त और उन्मुक्त। घिराव संकीर्णता है और उससे साम्प्रदायिकता जन्म लेती है। साधु असाम्प्रदायिक होता है, व्यापक और उदारमना।

इस ग्रथ में केवल रगों का ही नही, अपितु ऊचाई का भी विवेचन है। लेखक का कथन है कि पचपरमेष्ठी की मूर्तियां १० ताल प्रमाण ऊची होनी चाहिए। ऊंचाई ऊर्ध्व की द्योतक है। जैन परम्परा मे ऊर्ध्व का विस्तृत विवेचन मिलता है। वे पक्तियां हैं—

स्फटिकश्वेतरक्तं च पीतश्याममनिभं तथा।
सिद्धादिश्च सुगन्धश्च जनं चाहन्तु पार्श्वकम्।
एतत्पंचपरमेष्ठिपंचवर्णं यथाक्रमम्।
उत्तम् दशतालेन देवांगैस्सह मानयेत् ॥

अर्थ—अरहन्त का वर्ण स्फटिक के समान श्वेत, सिद्ध का रक्त-लाल, आचार्य का पीत—पीला, उपाध्याय का श्यामल और साधु का नभस्तल जैसा होता है। इनकी प्रतिभा १० ताल प्रमाण अर्थात् १२० भाग (शिल्पशास्त्र के अनुसार) ऊची होनी चाहिए। उनके पार्श्व में अन्य देवों की मूर्तियों का होना भी आवश्यक है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिगम्बर जैन कालेज, बड़ौत
(जिला मेरठ)

□□□

(पृ० ६ का शेषांश)

बाये में वज्र है। नीचे के अभिलेख में संवत १२२६ उत्कीर्ण है।

यहां से उपलब्ध अन्य प्रतिमायें पद्मावती व अम्बिका की है। ये क्रमश: पार्श्वनाथ और नेमिनाथ की यक्षिणी देवियां है। यहां तीर्थंकर प्रतिमायें भी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हुई है। उपलब्ध सभी प्रतिमाओं को १०वी से १३वी सदी के मध्य रखा जा सकता है। इन प्रतिमाओं पर मालवा के परमार मूर्ति शिल्प की स्पष्ट छाप है।

आष्टा से परमार-युगीन अनेक जैन प्रतिमाए प्रकाश में आयी हैं। यहां के दुर्ग (किले) से जो मूर्तिया उपलब्ध हुई है उनमे पार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ तथा ऋषभनाथ की सवत १२२४ की प्रतिमायें प्रमुख है। किले के मध्य मे एक विशाल जैन मन्दिर है, जिसमे अनेक मूर्तियां है। यहा की प्रमुख प्रतिमा यहां तीर्थंकर महावीर की है।

साराश यह है कि परमार राजवश के यशस्वी सम्राटो के काल में जैन धर्म को चरमोत्कर्ष पर पहुंचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसका प्रमुख कारण यह है कि भागवत धर्म के अनुयायी होने के बावजूद उन्होंने जैन धर्म के प्रति न केवल उदार दृष्टिकोण अपनाया, बल्कि उनके काल में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ और जैन धर्म के उन्नयन में उन्होने गहरी अभिरुचि भी व्यक्त की।

□□□

प्राध्यापक, गवर्नमेंट डिग्री कालेज,
डिण्डोरी (मंडला) मध्य प्रदेश

आदि जिन, शिव एवं शैव परम्परा

□ श्री मुनीशचन्द्र जोशी, नई दिल्ली

जैन और ब्राह्मण परम्परायें भारतीय मूल की होने पर भी परस्पर मौलिक रूप से भिन्न है। इन दोनों विचारधाराओं में, इनके दार्शनिक तत्वों के पृथकत्व के साथ-साथ, प्रधान अन्तर है इनके आदर्शों की कल्पना में। जैन धर्म मनुष्य को देवता से श्रेष्ठ मानता है और मनुष्यत्व का ही चरम विकसित रूप जिनत्व में देखता है और कैवल्य द्वारा प्राणि मात्र के लिए खुला है। किन्तु ब्राह्मण परम्पराओं में ब्रह्माण्ड के नियन्ता के रूप में ईश्वर की स्थिति सर्वोपरि है और वहां तक पहुंच पाना ही उपासक का उच्चतम लक्ष्य है। साथ ही देवयोनि मनुष्य योनि से श्रेष्ठतर अवस्था के रूप में मान्य है।

इतना सब कुछ होने पर भी जैन धर्म एवं ब्राह्मणी विचारधारा से अनुप्रेरित सम्प्रदायों ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। विद्वानों ने इस विषय पर काफी विवेचन किया है। इसलिए हम इस लेख में केवल इस प्रकार के सांस्कृतिक एवं दार्शनिक आदान-प्रदान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर पुनः विचार करना चाहेंगे। यह महत्त्वपूर्ण पक्ष है : आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ के स्वरूप का ब्राह्मण परम्पराओं पर प्रभाव।

डा० हीरालाल प्रभृत्ति विद्वानों ने ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में केशी और ऋषभ के नाम से आदि जिन सम्बन्धी सन्दर्भ देखे है। डा० हीरालाल जैन के अनुसार तो सम्भवतः ऋग्वेदीय जनों में केशी, अर्थात् ऋषभ वातरशना मुनियों के प्रधान के रूप में मान्य थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में ऋग्वेद की निम्नस्थ ऋचा का उल्लेख किया है :

केश्यग्नि केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥

ऋग्वेद १०, १३६-१

अर्थात् 'केशी (ऋषभ) अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करते है' समस्त विश्व के तत्वों का दर्शन कराते है (एवं) केशी ही ज्योतिस्वरूप (ज्ञान के तेज से प्रकाशमान) कहे जाते है।' केशी का यह वर्णन जैन मान्यताओं से बहुत दूर नहीं है, और इसे आदि जिन से सम्बद्ध मानना उचित ही लगता है। भगवान ऋषभ का ब्राह्मणी परम्पराओं में ऊंचा स्थान है। उन्हें भागवतादि पुराण विष्णु के चौबीस अवतारों में गिनते है। अन्य ब्राह्मण पुराणों में भी उनकी गणना महापुरुषों में हुई है। ब्रह्माण्डपुराण उन्हें श्रेष्ठतम नरेश (पार्थिव श्रेष्ठ) तथा सभी क्षत्रियों के मूलपुरुष के रूप में (सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्) उल्लिखित करता है। ब्राह्मण परम्परा उनके महायोगी एवं मुनिराट् के स्वरूप में भी परिचित है। तभी तो 'योगवाशिष्ट' के लेखक ने राम के मुख से कहलवाया है—

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः।
शान्तमासितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा ॥

अर्थात् (राम अपने लिए कहते है) न तो मैं अभिराम हूं, न मैं इच्छामुक्त हूं (किन्तु) मैं सर्वमयी जिन की भांति (शाश्वत) शान्ति प्राप्त करना चाहता हूं।'

किन्तु ऋषभनाथ के पुनीत स्वरूप का दूसरा पक्ष है उनका भगवान शंकर से सादृश्य। शिवपुराणकार ने इसका अनुमोदन करते हुए उन्हें शिव का अवतार कहा है :

इत्थप्रभावऋषभोऽवतारशंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमकथितस्तु नः ॥

—शि० पुराण १-४१

शंकर और ऋषभ दोनों जटाधारी है, योगी हैं, धर्मशास्ता है तथा कैलाश एवं वृषभ से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है तथा दिगम्बरत्व भी शंकर का एक लक्षण है। यही नहीं वरन् शैव तथा शाक्त परम्पराओं में आदिगुरु तथा आगमादि के सर्वप्रथम उपदेष्टा के रूप में शंकर को आदिनाथ की संज्ञा से विभूषित किया गया है। शाक्ततंत्रों में स्वगुरु को श्रीनाथ कहा गया है।

शरीर मे गुरु की स्थिति सहस्रार में मानी गयी है (सहस्रारे महापद्मे कर्पूरधवलो गुरु)। जैन देव प्रतिमाओ के मुकुट या मुकुट के ऊपर अंकित लघु जिनबिम्ब शायद तीर्थंकर का गुरुत्व ही दर्शाता है। लगता है कि आचार्य जिनसेन ऋषभ एवं शिव के समान लक्षणों से अवगत थे। तभी तो उन्होने अपने जिन सहस्रनाम का प्रारम्भ इन शब्दों से किया है :

श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शम्भवः शम्भुरात्मभूः।
स्वयप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुर्नभवः ॥२॥

इस प्रकार की प्रतिध्वनि बप्पभट्टि सूरि कृत शारदास्तोत्र मे भी मिलती है :

जिनपतिप्रथिताखिलवाङ्मया।
गणधराननमण्डपनर्तकी ॥
गुरुमुखाम्बुजखेलनहंसिका।
विजयते जगति श्रुतदेवता ॥३॥

सम्भवतः जैन परम्परा म सरस्वती (शारदा=श्रुतदेवता) की कल्पना जिनवाणी के रूप मे काफी पहले से की गई थी। इसका प्रमाण मथुरा (ककाली टीला) से प्राप्त कुषाण कालीन जैन सरस्वती की लेखाङ्कित प्रतिमा है। यह अभी तक प्राप्त सरस्वती की मूर्तियो मे से प्राचीनतम है। इसमे उत्कीर्ण लेख के अनुसार, इस प्रतिमा का दान धानुकार गोव ने वाचक (धर्म-व्याख्याता) आर्य्य हस्तहस्तिन के शिष्य वाचक आर्य्यदेव की प्रार्थना पर किया था। गुप्तयुगीन संस्कृत कोश 'नामलिङ्गानुशासनम्' या अमरकोश मे सरस्वती को वाणी या भाषा का पर्याय माना है और कालान्तर मे शाक्त उपासको ने देवी को शब्दब्रह्ममयी कहा (शब्दब्रह्ममयी परात्परमयी ज्योतिर्मयी वाङ्मयी)। अभिनवगुप्त ने तो यहां तक कह डाला है कि 'हे देवी ससार मे कौन सी ध्वनि (वाङ्मय) तुम्हारी स्तुति नही है क्योकि तुम्हारा सम्पूर्ण शरीर ही शब्दमय है (तव च का किल न स्तुतिरम्बिके ! सकल शब्दमयी किल ते तनुः)।

प्रश्न उठता है कि क्या ब्राह्मण परम्पराओ का इस प्रकार का विकास जैन विचारधारा से किसी प्रकार प्रभावित है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर शैव सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास का विवेचन करने के बाद ही दिया जा सकता है। कुछ विद्वानों ने शिवपूजा का मूलरूप सिन्धु संस्कृति के अवशेषों में माना है, परन्तु यह केवल अनुमान मात्र है, किन्ही ठोस प्रमाणो पर आधृत नही। हाल मे विख्यात पुराविद् डा० हँसमुख धीरजलाल साकलिया ने सिन्धु सभ्यता के कुछ स्थलों से प्राप्त लिंगाकृति पत्थरों के शिवलिङ्ग होने में पूर्ण शका व्यक्त की।

वैदिक साहित्य विशेषकर यजुर्वेद मे शैव सम्प्रदाय का मूल विद्यमान है, किन्तु परवर्ती पौराणिक शैव मत से यह काफी अलग है। ऐतिहासिक युग में शैवमत के पुनरुत्थान का श्रेय लकुलीश नामक माहेश्वराचार्य को दिया जाता है। लकुशील पाशुपत सम्प्रदाय का जन्मदाता था और उसका उद्देश्य पशु (जीव) की रागात्मक प्रवृत्तियों (पाश) का उच्छेद कर उसे मोक्षमार्गी बनाना था। पाशुपत मत से ही कालान्तर मे अन्य शैव सम्प्रदाय तथा शाक्त विचारधारा का विकास हुआ। इतिहासकारो ने विविध प्रमाणो के आधार पर लकुलीश को एक ऐतिहासिक पुरुष माना है और उसकी तिथि ईसवी सन् के आरम्भ के आस-पास स्थिर की है। मथुरा लकुलीशपाशुपत आचार्यों का प्रारम्भिक काल मे मुख्य केन्द्र था। इसकी पुष्टि मथुरा के ही एक गुप्तकालीन अभिलेख, से होती है जिसमे पाशुपत गुरु-परम्परा का उल्लेख है।

इस सन्दर्भ मे यह बताना उपयुक्त ही होगा कि पाशुपत मत की स्थापना के पूर्व ही मथुरा जैन धर्म का उत्तर भारत मे एक प्रधान केन्द्र बन चुका था; तो क्या यह सम्भव नहीं था कि वह जैन मान्यताओ और विश्वासो से प्रभावित हो। लकुलीश पाशुपतों ने शिव को एक अनूठे रूप मे प्रस्तुत किया था। यह था शिव का शास्ता या गुरु रूप। इसी रूप मे शकर ने आगमादि शास्त्रों का उद्घोष किया था। चतुर्मुख लिङ्ग शिव का यही रूप दर्शाते है और शिव लिङ्ग का यह स्वरूप मथुरा की प्राचीन चतुर्जिन युक्त सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओ से प्रेरित है। चतुःजिन संघार शायद मूलतः मानस्तम्भो के शीर्ष के रूप मे स्थित थे और शायद इन्हे पुनीत जिनवाणी के चतुर्दिक् प्रसार का प्रतीक माना गया था। स्तम्भ या दण्ड शिव का भी प्रतीक कहा गया है। यही नही स्वयं

(शेष पृ० २१ पर)

जैनधर्म : उद्भव और विकास

□ डा० रवीन्द्र जैन, मद्रास

जैन धर्म विश्व के प्रमुख एवं प्राचीन धर्मों मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। बीसवी शती के प्रथम चरण पर्यंत अनेक पौर्वात्य एव पाश्चात्य विद्वान इस धर्म को हिन्दू धर्म की एक सुधारवादी शाखा के रूप मे स्वीकार करते थे। इसकी ऐतिहासिकता को भी श्रमण महावीर से अधिक प्राचीन नही मानते थे। दूसरी ओर अन्य धर्मावलम्बियों के समान जैन धर्मानुयायी विद्वान अनेक विश्वासमूलक एव पौराणिक तर्कों के आधार पर जैनधर्म को अनाद्यनन्त भी सिद्ध करते चले आ रहे थे। प्राचीनता में महानता देखना मानव मात्र की संस्कारी प्रवृत्ति है और भारत मे तो यह चरम पर रही है।

आज ऐतिहासिक एव वैज्ञानिक अनुसंधान कार्यों के फलस्वरूप अनेक प्रामाणिक परिणाम सामने आये है। इन परिणामों का श्रेय मूलत: पाश्चात्य विद्वानों को है। प्रस्तुत निबन्ध मे उक्त तथ्यों के आलोक मे जैनधर्म की प्राचीनता एव परम्परा का अनुसधान प्रस्तुत किया गया है। प्राच्य विद्याओं के विश्वविख्यात अनुसन्धाता डा० हर्मन याकोबी ने अपनी जैन सूत्रों की व्याख्या मे जैनधर्म की प्राचीनता पर पर्याप्त ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये है। उनके अभिमत का सार है :—'इस तथ्य से अब सब सहमत हैं कि वर्धमान बुद्ध के समकालीन थे। स्वय बौद्ध ग्रन्थों में इस बात के प्रमाण है कि श्रमण महावीर से पूर्व जैन या आर्हत धर्म विद्यमान था और महावीर इसके संस्थापक थे ऐसा कोई भी उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता है।'

जैनधर्म की प्राचीनता पर जर्मन विद्वान डा० हर्मन याकोबी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक के नवम भाग मे स्पष्ट लिखा है—'पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक थे, इसका कोई भी प्रमाण नही है। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैनधर्म का सस्थापक मानने मे एकमत है।'

विश्वविख्यात दार्शनिक डा० राधाकृष्णन ने भी अपनी प्रख्यात पुस्तक 'भारतीय दर्शन'[१] मे स्पष्ट लिखा है—'नि सन्देह जैन धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामो का निर्देश है। भागवत पुराण द्वारा भी इस बात का समर्थन होता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के सस्थापक थे।'

ऋग्वेद मे वातरशना मुनियों और केशी से सम्बन्धित कथायें भी जैनधर्म की प्रागैतिहासिक प्राचीनता का पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत करती है। ऋषभदेव और केशी का साथ-साथ उल्लेख भी इसी प्राचीनता का द्योतक है। वैदिक साहित्य मे मुनियो के साथ यतियों और व्रात्यो का वर्णन पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होता है। ये तीनो मूलत: श्रमण परम्परा के ही है। इनके आचरण और स्वभाव मे तथा वैदिक ऋषियो के सामान्य स्वभाव और आचरण मे जो व्यापक अन्तर है, वह सहज ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। आहार, तप और यज्ञादि की हिंसात्मक या शिथिल प्रवृत्ति मे श्रमण साधु विश्वास नही रखते थे। ये स्वभावत: अधिक शान्त और सयमी थे।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन है। इतिहास भी अभी तक उसके समय का पूर्ण निश्चय नही कर सकता है। ऐसी अवस्था मे हमें पुराणों

१. "There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhmana or Parswanath. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankars Rishabhanath, Ajitnath and Aristnemi. The Bhagvat Purana endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism."—Indian philosophy, Vol. V, P. 288.

और लोक मान्यताओं का आश्रय लेना पड़ता है। पुराण और जनश्रुति केवल उमग और भावुकता की उपज नही है। उनमे इतिहास के जड़ सत्य, भौतिक सत्य और घटना चक्र के सतही स्तर को पार कर जीवन और उसके रस को भीतर से देखने और चखने की अद्वितीय क्षमता होती है।

जैन परम्परा :

जैन परम्परा के अनुसार यह दृष्यमान जगत सदा कालचक्र से नियन्त्रित रहता है। इस कालचक्र के दो कल्प माने गये है। ये छः भागो मे विभक्त है। सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा-दुखमा। जिस प्रकार गाडी का पहिया ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर घूमता रहता है, उसी प्रकार यह कालचक्र भी घूमता रहता है, अर्थात् जगत एक बार सुख से दुख की ओर जाता है और दूसरी बार दुख से सुख की ओर आता है। सुख से दुख की ओर जाने को अवसर्पिणीकाल कहते है और दुख से सुख की ओर आने को उत्सर्पिणीकाल कहते है। इन दोनो कल्पों की अवधि लाखों वर्षों की होती है।

इस समय दुखमा नामक पंचम अवसर्पिणीकाल चल रहा है।

पुराणों मे आरम्भ के दो कालो को भोगभूमिकाल कहा गया है। इन कालों मे आधुनिक ग्राम-सभ्यता या नगर-सभ्यता नही थी। इस युग मे कल्पवृक्षों से ही जीवन की सारी आवश्यकतायें पूरी होती थी। मनुष्य इस युग मे परिवार और घर जैसी चीजो से अपरिचित थे। कृषि आदि का ऋण भी उस काल मे नही था। भाई-बहिन मे विवाह अनायास हो जाता था। माता-पिता पर सन्तान का कोई उत्तमदायित्व न था। सदा युगल जन्म होता था। ये दोनो भाई-बहिन धीरे-धीरे बड़े होकर पति-पत्नी बन जाते थे। माता-पिता का इनके बड़े होने मे कोई हाथ न था। अंगुष्ठचूषण आदि क्रियाओ के द्वारा ये दोनो ४६ दिनो में तरुण हो जाते थे। इस समस्त व्यवस्था को पुराणो में भोगभूमि व्यवस्था कहा गया है। यह व्यवस्था सहस्रो लाखों वर्ष चली। फिर तीसरे काल में यह भोगभूमि की व्यवस्था क्रमशः कम होती चली गई। इसी तृतीय सुखमा-दुखमा नामक काल में चोदह कुलकरो का जन्म हुआ। इन कुलकरो के द्वारा ही धीरे-धीरे कर्मभूमि की व्यवस्था आरम्भ हुई। ज्यों-ज्यों भोग्य वस्तुओं का अभाव बढ़ता गया, मानव मे संयमवृत्ति, होड़ और ईर्ष्या भी बढने लगी। इसी के परिणाम स्वरूप वर्तमान सभ्यता का विकास हुआ। आदान-प्रदान, श्रम, बाजार, नाता-रिश्ता, दण्ड व्यवस्था आदि का क्रम आया। फिर भी यह सब अत्यन्त आरम्भिक अवस्था ही थी। आज की नगर-सभ्यता से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।

उक्त चौदह कुलकरों मे अन्तिम कुलकर नाभिराय हुए। ये ही भगवान ऋषभदेव के पिता थे। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से ही कर्मभूमि व्यवस्था का सच्चा, नैतिक एवं वैज्ञानिक सूत्रपात हुआ। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सुख-दुख, हिंसा-अहिंसा आदि का ज्ञान महाश्रमण आदिनाथ ने ही समस्त विश्व को कराया। अतः पूर्व कुलकरों के द्वारा आरम्भिक स्थूल जीवन क्रिया का ही प्रारम्भ किया जा सकता था। कुलकरों के इस तृतीय काल के पश्चात् चतुर्थकाल मे जिन त्रेसठ शलाका पुरुषों, अर्थात् गणनीय महान् पुरुषों ने कर्मभूमि की सभ्यता का विकास अपने लोकोत्तर चरित्र और उपदेशों द्वारा किया, वे हैं—

२४ तीर्थंकर :—ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिमुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर।

१२ चक्रवर्ती :—भरत, सगर, मघव, सनतकुमार, शान्ति, कुन्थु, अरह, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन, ब्रह्मदत्त।

६ बलभद्र :—अचल, विजय, भद्र, सुप्रभ, सुदर्शन, आनन्द, नन्दन, पद्म, रामचन्द्र।

६ वासुदेव नारायण :—त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषपुण्डरीक, दत्त, नारायण, कृष्ण।

६ प्रतिवासुदेव प्रतिनारायण :—अश्वग्रीव तारक मेरक, मधु, निशुम्भ, बलि, प्रहलाद, रावण, जरासन्ध।

जैन पुराणो मे भारतवर्ष का इतिहास उसकी भौगोलिक स्थिति के सदर्भ के साथ वर्णित है। भारत जम्बूद्वीप के दक्षिणी भाग मे स्थित है। इसके उत्तर मे हिम-

वान पर्वत स्थित है और मध्य में विजयार्ध पर्वत। पूर्व में गंगा नदी बहती है और पश्चिम में सिन्धु नदी। इससे उत्तर भारत के तीन खण्ड हो जाते हैं। दक्षिण भारत मे भी पूर्व, मध्य और पश्चिम दिशाओं में तीन खण्ड है। पुराणों में भारत के ये ही छह खण्ड वर्णित है जिन्हे जीत कर कोई सम्राट् चक्रवर्ती उपाधि प्राप्त करता था।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव :— उल्लेखित त्रेसठ शलाका पुरुषो मे आदि पुरुष आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इन्ही से जैनधर्म का प्रारम्भ हुआ। अन्तिम कुलकर नाभिराय और उनकी पत्नी मरुदेवी ही इनके पिता-माता थे। भारत की प्रथम राजधानी इक्ष्वाकुभूमि-अयोध्या मे ऋषभदेव का जन्म हुआ था। अपने माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् ऋषभनाथ राजसिंहासन पर बैठे। उन्होने सर्व प्रथम असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या का छह आजीविका साधनों के रूप में सूत्रपात किया। इन साधनों की विधिवत शिक्षा भी जनता को दी। कर्म की क्षमता और योग्यता के आधार पर जातियों का सुविभाजन भी आदिनाथ ने किया। प्रशासन के लिए आप ने गणों की स्थापना की। इससे जन-जीवन मे व्यवस्था का आरम्भ हुआ।

भगवान आदिनाथ के भरत और बाहुबलि नामक दो प्रसिद्ध पुत्र थे। ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की दो पुत्रियाँ भी थी। सर्व प्रथम अपनी इन सन्तानो को आदिनाथ ने सभी कलायें और विद्यायें सिखाई, फिर परम्परा से ये सभी समस्त मानव-जाति मे फैल गई।

एक दिन नीलांजना नाम की राजनर्तकी की नृत्य करते राज-सभा में ही मृत्यु हो गयी। इस घटना से ससार की असारता और क्षणभगुरता का तीव्रतम बोध आदिनाथ को हुआ। ससार से उन्होने वैराग्य ले लिया। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य-भार सौपकर आपने श्रमण धर्म में दीक्षा ग्रहण की और विश्व के सर्व प्रथम महाश्रमण बने।

भगवान आदिनाथ ने सुदीर्घकाल तक तप किया। अनेक दुस्सह परिषह सहे और अन्ततः केवलज्ञान प्राप्ति के बाद सहस्रो वर्षों तक प्राणीमात्र को मुक्ति मार्ग का सदुपदेश देते रहे।[1]

जिस प्रकार ऋषभदेव आदि तीर्थंकर हुए, उसी प्रकार उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत आदि चक्रवर्ती हुए। भरत अत्यन्त पराक्रमी, धैर्यशील, सुयोग्य नीतिज्ञ एव अत्यन्त चरित्रवान व्यक्ति थे। वे संसार मे रहते समय भी सदा जल में कमल की भांति निर्लिप्त ही रहे। कभी उन्होंने चक्रवर्ती होने का गर्व नही किया। जैन पुराणों में बाहुबली की वीरता और स्वाभिमान दोनों की भूरि-भूरि सराहना की गयी है और आज तक जनमानस पर भी वही छाप है। भरत के चक्रवर्ती पद के आग्रह के कारण दोनो भाइयो में युद्ध हुआ। बाहुबली विजयी होकर भी संसार से विरक्त होकर तप करने चले गये। बाद मे भरत के कारण ही बाहुबली का शल्य दूर हुआ और उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अन्ततः बाहुबलि ने मुक्ति प्राप्त की। भरत चक्रवर्ती ने भी दीर्घकाल तक राजसुख भोगा, सुशासन किया और फिर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर तप करते हुए मुक्ति प्राप्त की। भरत चक्रवर्ती नाम के आधार पर उनकी महान स्मृति को अमर रखने के लिए इस देश का नाम भारत रखा गया।

जैन पुराणो में ऋषभदेव के पश्चात् हुए अन्य तेईस तीर्थंकरों का विस्तृत जीवनवृत्त पाया जाता है। परन्तु अंतिम चार तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य किसी के तुलनात्मक अध्ययन का कोई आधार आज तक प्राप्त नही हो सका है। अतः इन चार का अर्थात नमि, नेमि, पार्श्वनाथ और महावीर का यहा सक्षेप मे उल्लेख करना संगत है। आदिनाथ के समान इन चार तीर्थंकरो का जैनेतर पुराणो एवं खनन कार्यों से पर्याप्त हवाला मिला है।

---

१. आदिपुराण में ऋषभदेव की आयु ८४ हजार वर्ष पूर्व और शरीर की ऊंचाई ६०० धनुष बताई गयी ह। एक पूर्व करोड़ो वर्षों का होता है और एक धनुष की सामान्य ऊचाई चार हाथ की होती है। आज के मानव को यह अविश्वसनीय सा लग सकता है। पर आज भी अनेक आश्चर्यजनक बातें होती हैं। अर्जुन, भीम और हनुमान का पराक्रम भी तो लोकोत्तर ही था।

तीर्थंकर नमि :

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ थे। ये मिथिला के राजा थे।[1] हिन्दू पुराणो में इन्हे राजा जनक का पूर्वज माना गया है। नमि अत्यन्त शाली होते हुए भी अनासक्त वृत्ति के थे। 'नमि की यही अनासक्त वृत्ति मिथिला राजवश में जनक तक पाई जाती है। प्रतीत होता है कि जनक के कुल की इसी आध्यात्मिक परम्परा के कारण वह वश तथा उनके समस्त प्रदेश विदेह अर्थात् देह से निर्मुक्त या जीवन मुक्त कहलाया और उनकी अहिसात्मक प्रवृत्ति के कारण ही उनका धनुष प्रत्यचाहीन रूप मे उनके क्षत्रियत्व का प्रतीक मात्र सुरक्षित रहा। सम्भवतः यही वह जीर्ण धनुष था जिसे राम ने चढाया और तोड़ डाला।' तीर्थंकर नमि के विषय मे और अधिक प्रमाण प्राप्त नही है।

नेमिनाथ :

नेमि अथवा अरिष्टनेमि नामक बाईसवें तीर्थंकर महाभारत काल मे हुए। ये श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे। ये जैन परम्परा के अत्यन्त मान्य एवं लोकप्रिय तीर्थंकर हुए। इनके जीवन पर आधारित विपुल एव विशिष्ट साहित्य भी उपलब्ध है। शौरीपुर के यादववंशी राजा समुद्रविजय के घर महारानी शिवा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। समुद्रविजय के लघु भ्राता वसुदेव के कृष्ण वासुदेव उत्पन्न हुए। अतः स्पष्ट है कि दोनों चचेरे भाई थे। नेमिनाथ का विवाह राजा उग्रसेन की बेटी राजुल से होना निश्चित हुआ। जब बारात लेकर नेमि राजुल को ब्याहने पहुचे तो बरातियो के भोजनार्थ वध हुए असख्य पशुओं को देखकर, उनकी छटपटाहट और चीत्कार सुनकर नेमिनाथ का परम अहिंसक हृदय तड़प उठा। वे ससार की इस मांसाहारी वृत्ति और भोगलिप्सा के इस नारकीय दृश्य को देखकर लोकोत्तर विरक्ति से भर गये। वे तत्काल वहां से लौटकर सीधे गिरनार पर्वत पर तप करने चले गये। राजुल भी परम पतिव्रता नारी थी। जब उसे अपने भावी प्राणनाथ की विरक्ति का पता लगा, तो वह भी तत्काल उनके पीछे गिरनार पहुची और उन्ही से दीक्षा ग्रहण कर तपस्विनी बनी। सुदीर्घ तपश्चरण के पश्चात् तीर्थंकर नेमिनाथ ने मुक्ति प्राप्त की। भारतीय जीवन में अहिंसक वृत्ति का ऐतिहासिक परिधि के अंतर्गत प्राप्त होने वाला उत्तम उदाहरण यह ही है। महाभारत का काल ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व या इससे कुछ और पहले माना जाता है। अतः नेमिनाथ का समय भी इसी के आसपास स्वीकार किया जा सकता है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ :

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता पर तो आज पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हो चुके है। वे एक इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुष के रूप मे स्वीकृत भी हो चुके है। उदय-गिरि, मथुरा, श्रवणबेलगोला आदि के शिलालेखों से वेद, भागवत एव पुराणो से एवं अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों से भगवान पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध की जा चुकी है और अब यह निर्विवाद रूप से स्वीकृत भी है। पार्श्व-नाथ इक्ष्वाकुवशीय राजा अश्वसेन और महारानी वामा की सन्तान थे। महावीर से २५० वर्ष पूर्व वाराणसी में इनका जन्म हुआ। तीस वर्ष की अवस्था में आपने श्रमण दीक्षा ग्रहण की और सम्मेदशिखर पर्वत पर दीर्घकाल पर्यन्त कर्मनाशिनी और मुक्तिदायिनी तपस्या की। अनेक विघ्न-बाधाओ के बीच भी पार्श्वनाथ सुमेरुपर्वत की भांति स्थिर रहे। राक्षसी उपद्रव भी उनकी अजरामर आत्मा से टकराकर चूर-चूर हो गये। केवलज्ञान प्राप्त होने के सत्तर वर्ष बाद तक वे प्राणीमात्र को आत्मकल्याण और मुक्तिमार्ग का उपदेश देते रहे। पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा पर बहुत गहरी छाप पड़ी। आपने जैन सस्था को ठोस एव स्थायी रूप मे संगठित करने के लिए उसे श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका इन चार भागो में विभक्त किया। इन चारों के कार्यक्षेत्र की सीमाए भी निश्चित की गयी।

तीर्थंकर नेमिनाथ के अहिंसा एव आचार के महोप-देश को पार्श्वनाथ ने अत्यन्त वैज्ञानिक ढग से चातुर्याम व्यवस्था के अन्तर्गत रखा और इनके पालन के लिए सर्वथा नयी दृष्टि भी प्रदान की। बाद मे रचे गय जैन आगमो और बौद्ध ग्रन्थो मे भी इन चातुर्यामो का वर्णन किया गया है। पार्श्वनाथ ने वेदविहित हिंसा के विरुद्ध

---

१. 'भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान'—लेखक डा० हीरालाल जैन, पृष्ठ २९।

इन चातुर्यामों का उपदेश दिया था। ये चातुर्याम है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह। महावीर पार्श्वनाथ के श्रमण धर्म के अनुयायी थे। महावीर ने अपने युग में समाज में स्वतन्त्र ब्रह्मचर्य की आवश्यकता का गहरा अनुभव किया और चातुर्याम में अलग ब्रह्मचर्य को मिलाकर पंच महाव्रतों का उपदेश दिया। पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रभावक कथाएं आज भी जैन जनता में अपना पूर्ण प्रभाव रखती है। कमठ का उपसर्ग तथा नाग-नागिन की कथा ऐसे ही लोमहर्षक प्रसंग है। पार्श्वनाथ राजस्थान, उड़ीसा, बंगाल आदि की आदिम जैनेतर जातियों में भी पूज्य है। ये जातियां आज भी पार्श्वनाथ की पूजा करती है। सम्भवतः भारत मे नाग पूजा का मूल आधार पार्श्वनाथ का चिह्न नाग रहा होगा।

श्रमण महावीर :

पार्श्वनाथ के लगभग २५० वर्ष बाद वैशाली के उपनगर कुण्डग्राम अथवा कुण्डलपुर मे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन महावीर का जन्म हुआ। भगवान महावीर का सम्पूर्ण जीवन आज दर्पण के समान स्पष्ट है। उनके शैशव-कैशोर, तारुण्य और परवर्ती जीवन की महानता सुविदित है। अहिंसा और अपरिग्रह के वे अवतार थे। धर्म मे बौद्धिकता-निजविवेक को महावीर ने पर्याप्त महत्व दिया। अन्धविश्वास और अन्धानुकरण का तथा व्ययसाध्य आडम्बर और क्रियाकाण्ड का भी श्रमण महावीर ने अनौचित्य सिद्ध किया और जीवन भर इनका विरोध भी करते रहे।

धर्म मे आधार से भी अधिक वैचारिकता को महत्व दिया। महावीर समदर्शी और अनेकान्तवादी थे। अतः विरोध करते समय विरोधी के प्रति भी उनके मन मे पूरा सद्भाव होता था। फलतः विरोधी भी अन्ततः उनका मित्र बन जाता था। तीस वर्ष की आयु मे ही महावीर ने दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् बारह वर्ष तक वे तप मे लीन रहे। अन्तिम तीस वर्ष तक वे धर्मोपदेश देते रहे। ७२ वर्ष की आयु में नश्वर शरीर को त्याग कर श्रमण महावीर ने मुक्तिवधू का वरण किया। महावीर अपने जीवन के पांच महाप्रसंगो के कारण वीर, महावीर, वर्धमान, सन्मति और अतिवीर कहलाए। महावीर जयन्ती और वीर निर्वाण दिवस अर्थात् दीपावली वीरप्रभु के लोकोत्तर स्मरण मे ही मनायी जाती है। श्रमण महावीर अन्तिम तीर्थकर थे। इनके साथ ही तीर्थकरों की परम्परा समाप्त हो गयी। चक्रवर्ती बलभद्र, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि का भी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार मे महत्वपूर्ण योगदान रहा है। विस्तारभय से यहा उनकी चर्चा नही की जा रही है। वैसे तीर्थङ्करो के वर्णन द्वारा उनकी बहुत कुछ पूर्ति भी हो जाती है।

इन त्रेसठ शलाका पुरुषो के पश्चात् गणधरो, श्रुतकेवलियो और जैनाचार्यों की विशाल परम्परा आरम्भ हुई। यह परम्परा ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक, पौराणिक एव साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

श्रमण महावीर के पश्चात्—

श्रमण महावीर पर्यन्त जिनवाणी लेखन का आरम्भ नही हुआ था। महावीर के गणधरों द्वारा उनकी वाणी के लिखित रूप का भी शुभारंभ हुआ। अब जैन-धर्म का विस्तार देश के विभिन्न भागो मे पर्याप्त वेग से होने लगा था। वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी तक समस्त जैन मुनि एव आचार्य एक सूत्र मे आबद्ध थे। उनमे कोई मतभेद न था। इसी शती मे बिहार मे द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा। सहस्रो मुनि दक्षिण भारत मे तथा राजस्थान, गुजरात मे प्रस्थान कर गये। जहां उन्हे परिस्थितिवश नग्नत्व ढकने के लिए कुछ वस्त्र धारण करने की सघाचार्यो द्वारा अनुमति दे दी गयी। अकाल समाप्त होने पर मुनिगण पुनः एकत्र हुए और वस्त्रोपयोग की वैकल्पिकता पर उनमें बहुत मतभेद हो गया। परिणामतः यही से जैन साधुओ के दो वर्ग हो गये। फिर ये दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाए अनेक उपशाखाओ के साथ विकसित हुई। धीरे-धीरे मुनिमार्ग, सिद्धान्तपक्ष और आचार परम्परा मे भी अन्तर आ गया।

भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। इनमे प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूति थे। इन्होंने महावीर के उपदेशो को बारह अंगो और चौदह पूर्वो में निबद्ध किया। जैन परम्परा के अनुसार ज्ञानियो के दो ही पद सर्वश्रेष्ठ माने

गये हैं। वे हैं—केवलज्ञानी और श्रुतकेवली। प्रत्यक्ष ज्ञानियों में केवलज्ञानी आते हैं और परोक्ष ज्ञानियों मे श्रुतकेवली। जो उक्त अंगों और पूर्वों मे पारंगत होता था वह श्रुतकेवली कहलाता था। भगवान महावीर के पश्चात् तीन केवलज्ञानी और पांच श्रुतकेवली हुए। इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे।

इसके पश्चात् जैनाचार्यों की विशाल परम्परा चली और आज तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा मे उत्कृष्ट कोटि के शताधिक आचार्य हुए है। इन आचार्यों ने अपनी देशकालजयी कृतियों के द्वारा जिनवाणी के भण्डार को अजरामर शक्ति दी है। इसी प्रकार अनेक सम्राटों और राजाओं ने भी जैनधर्म को अपनाया और उसके प्रचार-प्रसार में योग भी दिया। मगधाधिपति राजा बिबसार, पूरा नन्दवश, सम्राट चन्द्रगुप्त, सम्राट अशोक, सम्राट सम्प्रति—अशोक के पौत्र और कलिंग के चक्रवर्ती खारवेल आदि जैन धर्म के धारक एवं प्रसारक थे। इन सभी के कार्यों का संक्षिप्त उल्लेख भी एक स्वतन्त्र विशाल निबन्ध की अपेक्षा रखता है।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,
टी० नगर, मद्रास (तमिलनाडु)

□□□

(पृष्ठ १५ का शेषांश)

लकुलीश की उष्णीषधारी मूर्तियां जिन प्रतिमाओं से ही प्रभावित है। पाशुपतों ने जातिगत बन्धनो की कठोरता पर विश्वास न कर विदेशी शको एवं कुषाण जातियो को शैव दीक्षा दी थी। इस प्रकार की मान्यता श्रमण मतो के प्रभाव के बिना नही बन सकती थी।

स्मरण रहे कि लकुलीश पाशुपतों ने प्राचीन शैवमत का पुनरुत्थान किया था और शिव को आदिगुरू (सर्वज्ञ) से रूप मे प्रतिष्ठित किया था। शकर के इस रूप की कल्पना शिव की वैदिक मान्यताओं से प्रभावित न होकर आदिजिन के मानुषी चरित्र से अनुप्रेरित ज्ञात होती है। ऐतिहासिक साक्ष्यो के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि शायद मथुरा के प्राचीन जिन केन्द्र से ही पाशुपत आचार्य विशेष रूप से प्रभावित हुए थे। गुप्तकाल मे जिन, बुद्ध एवं शंकर तीनो के लिए 'सर्वज्ञ' शब्द का व्यवहार मान्य हो चुका था। गुप्तयुगीन कोशकार अमरसिंह ने इसे इन शब्दों मे स्पष्ट किया है:

सर्वज्ञस्तु जिनेन्द्रेश्यास्सुगते शंकरऽपि च।

यह भी असम्भव नहीं कि कैलाशवासी आदिगुरु एवं महायोगी के रूप मे शिव की कल्पना ऋषभ के मानवी चरित्र का दैवी सस्करण हो, क्योंकि हिन्दू पुराणकारों ने शिव स्वरूप का वैविध्य परस्पर विपरीत मान्यताओं के आधार पर कल्पित किया है, अन्यथा स्थाणु और नटराज के नाम से एक ही देवता कैसे सम्बोधित किया जा सकता है।

यह भी एक सम्भावना है कि जैन पंच परमेष्ठियों के आधार शाम्भवों ने गुरु परमगुरु, परात्पर गुरु तथा परमेष्ठी गुरु की मान्यता का निर्माण किया हो।

निदेशक, राष्ट्रीय सग्रहालय, जनपथ, नई दिल्ली

□□□

जैन काव्य में व्यवहृत 'ज्ञान' शब्द : रूप-स्वरूप

☐ डा० अरुणलता जैन, फरुखाबाद

जैन दर्शनानुसार ज्ञान प्राप्ति का प्रथम सोपान दर्शन है। इन्द्रिय तथा वस्तु के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान कुछ अस्पष्ट पहता है। जीव मस्तिष्क मे होने वाली विशेषण की प्रक्रिया द्वारा इस अस्पष्ट आभास को स्पष्ट अनुभूति में परिवर्तित कर देता है। इस प्रकार दर्शन जिस वस्तु का परिचय कराता है वह क्रमशः ज्ञान में परिणत हो जाता है। सच में देखा जाए तो दर्शन मे ज्ञान की सत्ता विद्यमान रहती है। दर्शन ही ज्ञान बदल जाता है। इस प्रकार ज्ञाता द्वारा ज्ञेय वस्तु की दर्शन द्वारा जानकारी ही ज्ञान की संज्ञा से अभिहित है।

जैन दर्शन अपनी विशिष्ट मान्यताओं के कारण किसी भी स्वाध्यायी का ध्यान आकर्षित कर सकता है। इसके अनुसार चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है। यहां अन्य दर्शनो की भांति चैतन्य कोई आकस्मिक गुण नही है। आत्मा सूर्य की भांति ज्योतिर्मान है। सूर्य अपना प्रकाश कभी नही छोड़ता। आवरण पड़ने से ढँक जाता है। आत्मा अपना स्वाभाविक गुण नही त्यागती। कर्म-बन्धन मे पड़कर अनंत ज्ञान का प्रसार नही कर पाती। बन्धन नष्ट होने पर आत्मा अनत ज्ञानमय हो जाती है।

इस अनंत ज्ञान को प्राप्त करने के साधनों को प्रमाण कहते है तथा शेष वस्तुओं को प्रमेय। जैन दर्शन में प्रामाणिक ज्ञान दीपक की भांति है जो स्वय प्रकाशमान है और अपने चतुर्दिक वातावरण को भी प्रकाशित करता है। इसके अनुसार प्रमाण स्वभावत: स्पष्ट है, उसमे किसी प्रकार की भ्रान्ति नही है। इसलिए दृश्यमान जगत यथार्थ है। यहाँ ज्ञान के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों पक्षों को स्वीकार किया गया है।

जैन ज्ञान-मीमांसा मे ज्ञान को दो भागो में प्रमाजित किया गया है—प्रत्यक्ष, परोक्ष। मति, श्रुति को परोक्ष तथा अवधि, मन:पर्यय तथा केवलज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकार यहाँ ज्ञान के पांच प्रकार कहे गये है। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जीव, मन तथा इन्द्रिय की सहायता न लेकर सीधे ज्ञान प्राप्त करता है। प्रत्यक्ष प्रमाण भी सर्वथा शुद्ध नही होता। कभी कर्म प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी भ्रान्ति प्रतीति होती है। इसी कारण स्वरूप अनुमान को जैन-दर्शन मान्यता देता है। तर्क की कसौटी पर खरा उतरने वाला अनुमान कभी वास्तविक से परे नही जा सकता। तत्त्वार्थसूत्र मे सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण कहा है।

वस्तुतः जैनदर्शन की प्रमाण सम्बन्धी यह मान्यता अन्य दर्शनो से भिन्न है क्योकि अन्य दर्शनों में इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष तथा शेष अन्य साधनो द्वारा प्राप्त ज्ञान परोक्ष माना गया है। इसके विपरीत जैन ज्ञान प्रमाण की यह विशेषता है कि इसमे केवल एक ही प्रकार के प्रत्यक्ष-ज्ञान को माना गया है और वह है 'केवल-ज्ञान', क्योकि इन्द्रिय तथा मन को इस सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में बाधक माना गया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद कहे गये है—पारिमार्थिक प्रत्यक्ष, सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष। जो ज्ञान आत्मा के अधीन रहकर स्वयं के विषय को विशुद्धता के साथ जानता है, पारिमार्थिक कहलाता है। जो इन्द्रियों से साक्षात ग्रहण काल मे जानता है वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। पारिमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—एकदेश पारिमार्थिक—दूसरा सर्वदेश पारिमार्थिक। अवधिज्ञान और मन:पर्यय देश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है।

परोक्ष ज्ञान इन्द्रियों द्वारा अनुबन्धित है। मति, श्रुति से जो जाना है, वह परोक्ष प्रभाव है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान तथा आगम का समावेश परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत होता है। स्मृति पूर्व मे जो पदार्थ जाना था

उसके स्मरण-मात्र को स्मृति कहते है। प्रत्यभिज्ञान—पूर्व बातों का स्मरण कर प्रत्यक्ष पदार्थ के साथ जोड कर निश्चय करने को कहते हैं।[1]

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञान होते है। उनसे स्पष्ट है कि उनके अनेक स्वभाव हे। जैन-दर्शन मे स्वभाव को ही धर्म कहा गया है। केवली केवलज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अनंत-धर्म का ज्ञान पाता है।

अब इन परोक्ष-प्रत्यक्ष प्रमाणो के अन्तर्गत सदर्भित पाच प्रकार के ज्ञान के रूप-स्वरूप पर दृष्टिपात कर लेना भी समीचीन होगा। प्रत्येक शब्द स्वय मे एक अर्थ समेटे होता है। उस अर्थ को समझने के लिए हमे शब्द व्युत्पत्ति की गहराई में जाना होता है। यहां तत्सम्बन्धी शब्दो की निष्पत्ति को समझना होगा तथा यह भी देखना होगा कि हिन्दी जैन काव्य के रचयिताओ ने उन शब्दों का इन्ही अर्थों मे अपने काव्य मे व्यवहार किया है।

मतिज्ञान :

मति बुद्धि ज्ञानम् इति मति ज्ञान। मति-ज्ञान शब्द यौगिक शब्द है—मति+ज्ञान। मति का अर्थ है मनन करना। मनन करके जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे मतिज्ञान कहते है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है।[2] मति-ज्ञान' चार प्रकार मे वर्णित है—

१. अवग्रह—किसी वस्तु का अवलोकन करने से चित्त में उसका जो रूप स्थिर होता है, उस रूप को ही जानना वस्तुतः अवग्रह कहलाता है।

२. ईहा—उस वस्तु को पूर्णरूप से समझने की आकाक्षा होना ही ईहा कहलाती है।

३. अवाय—उस रूप रग का निश्चय करना ही अवाय है।

४. धारणा—अवाय द्वारा निर्णय किये गये पदार्थ का अविस्मरण न होने वाला संस्कार ही धारणा है।

संस्कृत जैन वाङ्मय में व्यवहृत 'मतिज्ञान' शब्द हिन्दी जैन काव्य में प्रयुक्त हुआ है। १७वीं शती से लेकर २०वीं शती तक के कवियों की काव्यधारा मे मतिज्ञान शब्द अपने इसी अर्थ मे सुरक्षित है।[3]

श्रुतिज्ञानान :

'श्रुति ज्ञानम्'—श्रुति ज्ञानं अर्थात् सुना हुआ ज्ञान। धातु ने 'क्त' प्रत्यय करमे पर श्रुति शब्द निष्पन्न हुआ। 'ज्ञ' धातु मे ल्युट प्रत्यय करने पर ज्ञान शब्द की निष्पत्ति हुई। इस प्रकार किसी पदार्थ के विषय मे सुनने के आधार पर जानकारी प्राप्त करना श्रुतिज्ञान है है।[4]

जैन दर्शन मे इन्द्रिय और मन के द्वारा एक पदार्थ को जानकर उसके आश्रय से तत्सम्बन्धी अन्य प्रकार के प्ररूपण करने मे जो ज्ञान समर्थ है उसे श्रुतिज्ञान कहा

---

१. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, अमृतचन्द्राचार्य पर हिन्दी टीका, राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला, आगास, वि० स० २०२२, पृष्ठाक २२-२३।

२. 'पचभिरेन्द्रियेर्मन च यदर्थग्रहण तन्मतिज्ञान।" अर्थात्—पाच इन्द्रियो और मन से जो पदार्थ का ग्रहण ग्रहण होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।
धवला, १।१, १, ११५।३५४।१, जैनेन्द्रसिद्यान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ २०२६, पृष्ठांक २६१।

३. (अ) "मति श्रुति ज्ञान दोऊ है परोक्ष वाण ओघ।
मन पर्जय, प्रत्यक्ष एक देश पेखिए॥"
—ब्रह्मविलास, भैया भगवतीदास, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ३४३०, पृष्ठांक ३५।
(ब) "मति श्रुति अवधि मनपर्ज के विषयक दोऊ।
विषय कहावत क्षयोपशम पथ में॥"
—प्रवचनसार, वृन्दावनदास, सरस्वती सेवक, नाथुराम प्रेमी, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १६०५, पृष्ठांक ५१।

४. "तत्थ सुदणाण णाम इदएहि गहिल्थादो तदो पुवगुदत्पग्गहणं जहा सद्दाहोड़ावी भुवलभो धुनादो अग्गिस्सु वलभो वा।"
अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण किए पदार्थ से उससे पृथक् भूत पदार्थ का ग्रहण करना श्रुतिज्ञान है, जैसे शब्द से 'घट' आदि पदार्थों का जानना अथवा धूम्रादि से अग्नि को ग्रहण करना।
—धवला ६।१, ६, १—१४।२१।६ जैनेन्द्र सिद्यान्तकोश, भाग ४, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०३०, पृष्ठांक ५६।

है। श्रुतिज्ञान के दो भेद हैं[१] —

१. अर्थलिगज—पदार्थ को देखकर उसमे इष्ट अथवा अनिष्टता का ज्ञान होना। यह ज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय सभी मे होता है।

२. शब्दलिगज—वह ज्ञान है जो वाचक शब्दों को सुन करके वाच्य का ज्ञान कराए। यह लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों प्रकार का होता है।

संस्कृत-प्राकृत जैन वाङ्मय मे व्यवहृत 'श्रुतिज्ञान' शब्द हिन्दी जैन काव्य मे गृहीत है। १७वी शताब्दी से लेकर २०वी शताब्दी तक के हिन्दी जैन काव्य मे यह शब्द अपने इसी अर्थ मे प्रयुक्त है।[२]

अवधि ज्ञान—

अवधि+ज्ञान के मिश्रण से इस शब्द को समष्टि हुई है जिसका अर्थ है—समयात्पूर्व ज्ञान अर्थात् समय से पूर्व ज्ञान होना। जिनवाणी के अनुसार जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा के लिए रूपी पदार्थों को स्पष्ट व प्रत्यक्ष जाने, वह अवधिज्ञान है।[३] अवधिज्ञान दो प्रकार से कहा गया है[४]—

१. भव प्रत्यय—भव की मुख्यता से होने वाला अवधिज्ञान देव और नारकी जीवो के होता है।

२. गुण प्रत्यय—शेष रहे हुए मनुष्य और तिर्यंचों के क्षयोपशम से होता है।

सस्कृत-प्राकृत जैन काव्य में प्रयुक्त 'अवधिज्ञान' शब्द इसी अर्थ को समेटे हुए हिन्दी जैन काव्य मे व्यवहृत है। १६वी शती मे लेकर २०वी शती तक के कवियो के काव्य मे अवधिज्ञान शब्द इसी अर्थ मे दर्शनीय है।[५]

---

१. "त दुविह सद्दलिगज, अत्थ लिगज चेदि। तत्थातं सद्दलिगज तदुविह लोइय लोउत्तरिय चेदि।।" समण्णा पुरि सवयण बिणिग्गयवयण कल्लावज णियाणं लोइय सह असच्च कारण विणिम्मुक्क पुरि सवयण विणिग्गयवयण कलाव जणिय सुदणाण लोउत्तरिय घूमादि अत्थ लिगज पुण अणुमाणणाम।'

अर्थात्—श्रुतिज्ञान शब्द लिंगज और अर्थलिगजके भेद से दो प्रकार का है। उनमे भी जो शब्दलिगज श्रुतिज्ञान है वह लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार का है। सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्दलिगज श्रुतिज्ञान है। असत्य बोलने के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्दलिगज श्रुतिज्ञान है।

कषायपाहुड १।१–१५।३०८–३०६।३४०–३४१।५, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ४, जिनेन्द्र वर्णी, भारज्ञानपीठ—२०३०, पृष्ठाक ५६।

२. (अ) "सम्यक् गुरु प्रसाद जिनश्रुत है,
निज स्वरूप मे पागा रे।"

पार्श्वदास पदावली, कवि पार्श्वदास, श्री दिगम्बर जैन समाज, अमीरगंज—टोंक, १६०२, पृष्ठांक १८, छन्दांक ३४।

(ब) "मति, श्रुति, अवधिविराजै,
पूजो जिनचरण हितकारी।"

शीतलनाथ पूजा, कवि मनरग लाल, ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठांक ३५२।

३ "तथैव च स एवात्मा अवधिज्ञानावरणीय क्षयोपशमान्मूर्तवस्तुयदेकदेशप्रत्ययक्षेण सविकल्प जानाति तदवधिज्ञानम्।"

अर्थात्—इसी रीति से वही आत्मा अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्त्तवस्तु को जो एकदेश प्रत्यय द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है। वृहद द्रव्य सग्रह, नेमिचन्द्राचार्य, श्रीमद राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला आगास।

४. "भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ।२१। क्षयोपशमनिमित्त षड्विकल्पशेषाणाम् ।२२।

अर्थात्—भव की मुख्यता से होने वाला अवधिज्ञान देव तथा नारकी जीवो को होता है। शेष रहे हुए मनुष्य और तियंचो को क्षयोपशम से अवधिज्ञान होता है।

तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, श्री अखिल विश्व जैन-मिशन, अलीगंज, सन् १६५७, पृष्ठाक १०-१२, अध्याय संख्या १, सूत्राक २१-२२।

५. (क) "कोणीक अवधिज्ञान-भण्डार,
कोणिक जातिस्मरण कहाए।
ज्ञान बले कह्यो उपदेश, प्रजा लोक सुपेर ध्याये।।'

आदि पुराण रास, ब्रह्मजिनदास, लिपि सम्वत् १८५६, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर, पृ० १३, छन्दाक १३।

(ब) "ताहि को पति है कौन, तबै मुनि को लिया।
मुझ पर होय दयाल, अवधि द्रिम खोल दिया।।"

जम्बुस्वामिचरित, पांडे जिनदास, पत्रांक ३५, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर, पृष्ठांक १६, अरिल्ल छं० ८।

मन:पर्यय

'मन:पर्यय' यौगिक शब्द है। मनस: पर्ययणा ज्ञानम् मन:पर्यय अर्थात् मन से किसी चीज को समझा जाए।[२] 'मन:पर्यय' कर्म का क्षयोपशम होने पर ही प्रगट होता है।[३]

मन.पर्यय ज्ञान के दो भेद है[४] —

१. ऋजुमति—जो मनुष्य सरलता से सोच रहा हो उसका ज्ञान।

२. विपुलमति—वक्रभाव से भूत, भविष्य बर्तमान का ज्ञान।

सस्कृत, प्राकृत काव्य मे व्यवहृत मन:पर्यय शब्द हिन्दी जैन काव्य में इसी अर्थ मे गृहीत है।[४]

केवलज्ञान—

केवल त्रिकालविषयकज्ञानम् अभ्यासतीति केवलज्ञानं।

केवलज्ञान वह ज्ञान है जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक भूत, भविष्य, वर्तमान समस्त द्रव्यों, उनके गुणो तथा पर्यायों को बाह्य इन्द्रिय की सहायता लिए बिना ही जानता है।[५] यह ज्ञान कर्मक्षय से उत्पन्न होता है।

संस्कृत, प्राकृत जैन वाङ्मय के व्यवहृत 'केवलज्ञान' शब्द हिन्दी जैन काव्य मे भी गृहीत है। कवि बनारसीदास के काव्य मे यह शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त है।[५]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन ज्ञान-मीमांसा अपने मे ज्ञान सम्बन्धी निजी महत्त्व समेटे हुए है। वह केवल एक ही प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान को महत्त्व देता है और वह है केवलज्ञान। अन्य ज्ञान केवल ज्ञान तक पहुंचने के विभिन्न सोपान हैं। ज्ञान-बोध बिना जीव सन्मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञान-बोध ही व्यक्ति मे शाश्वत आनन्द की सृष्टि करता है। □□

६, रामलाल कयूमगंज, फरुखाबाद (उ० प्र०)

(स) "अवधि ज्ञान मन पर्यय दोहै देश प्रतच्छ।
द्रव्य क्षेत्र परिमान लिए जाने जिय स्वच्छ॥"
छहढाला, (कवि दौलतराम), श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, पृष्ठाक ६२, ढाल सख्या ४।

२. "परकीयमचोगतोऽथो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययण परिगमन मन:पर्यय:।"
अर्थात्—दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते है। उसके मन के सम्बन्ध मे उस पदार्थ का परिगमन करने को मन:पर्यय कहते हैं।
सर्वार्थसिद्धि १, ६।६४।३–जैनेन्द्र, सिद्धान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०२६, पृष्ठाक २७३।

३. "तदावरणकर्मक्षयोपशमादि-द्वितीय-निमित्तवशातपरकीय-मनोगतार्थ-ज्ञान मन:पर्यय:।
अर्थात्– मन:पर्यय ज्ञानावरणादि कर्म के क्षयोपशमादिरूप सामग्री के निमित्त से परकीय मनोगत अर्थ को जानना मन:पर्यय ज्ञान है।
राजवार्तिक १।६।४।४७।१६, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ २०२६, पृष्ठाक २७३।

४. "ऋजु विपुलमती मन:पर्यय:।२३।
अर्थात्—मन:पर्यय ज्ञान ऋजुमति अर्थात् जो मनुष्य सरलभाव से सोच रहा है उसका ज्ञान तथा विपुल मति दो प्रकार का है।
तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज, १६५७, पृष्ठांक ११, अध्याय संख्या १, सूत्रांक २३।

४. (क) "मनपर्जय जानाहि मतभेद,
केवलज्ञान प्रगट सब वेद।"
बनारसी विलास, कवि बनारसीदास, भंवरलाल जैन, केशरलाल बख्शी—श्री नानूलाल स्मारक ग्रन्थमाला, न्यू कालोनी, जयपुर, २०१२, पृष्ठांक १०५।
(ब) "विपुल मन:पर्यय परमावधि सभी विधि।
ठीक लहै मोक्ष तति इन्हें शीश नाइए॥"
चर्चाशतक, कवि द्यानतराय, सरस्वती भण्डार, चोह का रास्ता. जयपुर, पृष्ठाक २१८।

५. 'केवलम् सहाय मिंदियालोय गिरवेक्खं तिकाल भोयराण तपज्जाय समवेदाणं तवत्थु परिमसकुडिय सवत्तं केवलणाण।"
अर्थात्—'केवल' असहाय को कहते है जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा रहित है, त्रिकाल गोचर वाला है, सर्व व्यापक है और प्रतिपक्षी रहित है, उसे केवलज्ञान कहते है।
धवला ६।१, ६–१, १४।२६।५, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०२८, पृष्ठाक १४५।

५. "जोग धरी रहै जो असु भिन्न,
अनन्त गुणातन केवलज्ञानी।
तासु हृदय द्रह सो निकसि सरिता,
सम वहे श्रुत-सिन्धु समानी॥"
नाटक समयसार, पं० बनारसीदास, सस्ती ग्रन्थमाला, ७/३३ दरियागंज, दिल्ली, सं० २४७६, पृ० १०।

मथुरा की जैन कला

□ डा० रमेशचन्द जैन, बिजनौर

मथुरा की जैन कला भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मथुरा के कंकाली टीले वाले भूभाग पर ईसा की कई शती पहले से लेकर ११वी शती तक जैन स्तूपों, मन्दिरो एवं विविध मूर्तियों का निर्माण होता रहा। इतने लम्बे समय तक वास्तु तथा मूर्तिकला के विकास का केन्द्र होने के कारण ककाली टीले का क्षेत्र असाधारण महत्व रखता है[1]। मथुरा जैन कला को निम्नलिखित भागों में बाटा जा सकता है :

१ तीर्थंकर मूर्तियां : जिससे संसार सागर को पार किया जाय उसे तीर्थ कहते हैं। तीर्थ की जो प्रवृति करे उसे तीर्थंकर कहते है। जैनों मे तीर्थंकर मूर्तियो की स्थापना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। ये सख्या मे २४ होते है। मथुरा कला मे आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरो की मूर्तियां प्राप्त हुई है जो प्राय: पद्मासन है। कुछ खड्गासन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।[2] समस्त मूर्तियां नग्न, नासाग्रदृष्टि और ध्यानमुद्रा मे है। कुषाणकालीन प्रतिमाओं मे नाना तीर्थंकरों मे भेद सूचित करने वाले बैल आदि चिन्ह नही प्राप्त होते है। अधिकाश मूर्तियों के वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह पाया जाता है तथा हस्ततल व चरणतल एवं सिंहासन पर धर्मचक्र, उष्णीष तथा भौहो के बीच रोमगुच्छ भी बहुत-सी मूर्तियों मे पाए जाते है। अन्य परिकरों मे प्रभावल, दोनों पार्श्वों में चमरवाहक तथा सिंहासन के दोनो ओर सिंह भी उत्कीर्ण रहते हैं। कभी-कभी ये सिंह आसन को धारण किए हुए दिखलाए गए हैं[3]। ऋषभदेव के कधों पर लटे और सुपार्श्वनाथ के मस्तक के पीछे सर्पफण का टोप दिखाया गया है। चौकी पर कही-कहीं श्रावक (गृहस्थ) भी बनाए गए है जो धर्मचक्र या तीर्थंकर की पूजा के लिए आए है। कला की दृष्टि से इन मूर्तियों की शैली कुछ स्थिर है, जैसा उनकी तपोमुद्रा या समाधि से संगत था। गुप्तकालीन कुछ मूर्तियो मे सौदर्य और अगों मे गतिशीलता है और कुछ अलकरण भी है। महावीर की एक मूर्ति के जो उत्थित पद्मासन मे बैठी है, मस्तक के पीछे पद्मातपत्र और ऊपर छल्लेदार केश है। इसमे अंगों का विन्यास लोच भरा है और मुख पर दिव्य छवि है।[4] कई चतुर्मुखी प्रतिमायें भी प्राप्त हुई है। इन्हे 'सर्वतोभद्रिका' कहा जाता है। गुप्तों के राज्यकाल मे साहित्य के साथ-साथ कला एवं स्थापत्य का खूब संवर्धन हुआ। इस काल मे शिल्पशास्त्र पर भी पुस्तकें लिखी जाने लगी। मदिरों और प्रतिमाओं की रचना कैसे होनी चाहिए, इसका भी विशद विवेचन किया गया। यही कारण है कि गुप्तकाल की मूर्तियाँ भाव से परिपूर्ण है। उनमे शान्ति है तथा उनकी रचना सुरुचिपूर्ण ढंग से की गई है। कला के जो भी उदाहरण मिलते हैं उनमे इस काल की विशेषता विद्यमान रहती है। इन विशेषताओं के आधार पर उन्हे पहचानना बहुत आसान है। इसी काल से जिन प्रतिमाओं पर तीर्थंकरों के लाँछन भी उत्कीर्ण किए जाने लगे, यद्यपि बिना लाँछन के भी प्रतिमाओं का निर्माण जारी था[5]।

१. श्री कृष्णदत्त वाजपेयी : कंकाली टीला की जैन कला का अनुशीलन (बरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ० ६०८)
२. श्री कृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा, पृ० ३३
३. डा० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३४३।
४. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ. २८४।
५. श्री हरिहरसिंह : तीर्थंकर प्रतिमाओं का उद्भव और विकास (श्रमण वर्ष २५, अंक १-२), पृ० ५०।

२. देव-देवियों की मूर्तियां : प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से जैनधर्म मे शासन देवताओं का बहुत महत्व है। इनके अलंकरण से जिन प्रतिमाओं की पहचान और सरल हो जाती है; क्योंकि प्रत्येक तीर्थंकर के अलग-अलग यक्ष और यक्षी होते है तथा उनके लक्षण भिन्न-भिन्न होते है। शासन देवताओं के अलंकरण से परिकर मे भी काफी विकास होता है। अनुमानतः ऐसी प्रतिमायें सातवीं-आठवी सदी से निर्मित होने लगी।[६] मथुरा शैली को यथार्थ मे जैनधर्म से प्रेरणा मिली। प्रारंभिक काल मे मथुरा के कलाकार संकलित पट्टिया बनाते थे, जिसमे एक ध्यानमग्न नग्न तीर्थंकर की पालथी मारे बैठी हुई आकृति बनी रहती थी, जिसने बौद्धों को अपने गुरु का इस मुद्रा मे प्रदर्शित करने की प्रेरणा दी। मथुरा शैली के महत्व-पूर्ण अवशेषों मे से एक स्तूप की पाषाण वेष्ठनियो पर बनी यक्षियाँ है। यह स्तूप जैन स्तूप था। ये आभूषणो से लदी हुई स्त्रियाँ जिनकी आकृतियाँ नितम्ब पर अत्यन्त चौड़ी तथा कमर पर पतली है, चपल मुद्रा मे खड़ी हुई सिन्धु घाटी सभ्यता की नर्तकी बाला का स्मरण कराती है और उनकी प्रसन्न एवं स्पष्ट कामुकता, धर्मनिष्ठा एवं त्याग के सन्दर्भ में जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण के अधिकारविरोध का उदाहरण है, जिसे इस प्रकार के सान्निध्य में कुछ भी असगत नही प्रतीत होता।[७] तारानाथ ने लिखा है कि मौर्यकालीन कला यक्षों द्वारा और उससे पूर्वकालीन देवो द्वारा निर्मित हुई।[८] मथुरा कला मे यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिलती है। ये सुख-समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि है। यक्षो मे कुबेर तथा उनकी स्त्री हारीती का स्थान बड़े महत्व का है। इनकी अनेक मूर्तियाँ मथुरा मे प्राप्त हुई है। कुबेर यक्षो के अधिपति तथा धन के देवता माने गए है। बौद्ध, जैन तथा हिन्दू तीनो धर्मो मे इनका पूजन मिलता है। कुबेर जीवन के आनन्दमय रूप के द्योतक है और इसी रूप में इनकी अधिकांश मूर्तियां मिली हैं। संग्रहालय में संख्या सी० २, सी० ५ तथा सी० ३१ कुबेर की उल्लेखनीय मूर्तियां है, जिनमें वे सुरापान करते हुए चित्रित किए गये हैं। इनके हाथों मे सुरापात्र बिजौरा-नीबू तथा रत्नों की थैली या नेवला रहता है।[९] जैन देवियों की भी मूर्तिया मिली हैं जो अधिकतर गुप्तकाल तथा मध्यकाल की हैं। इनमे नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका तथा ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तियां दर्शनीय है।[१०] चक्रेश्वरी देवी की एक ढाई फुट ऊंची पाषाण मूर्ति मथुरा संग्रहालय मे विराजमान है। यह मूर्ति एक गरुड पर आधारित आसन पर स्थित हैं। इसका सिर व भुजायें टूट-फूट गई है, तथापि उसका प्रभावल प्रफुल्ल कमलाकार सुअलंकृत विद्यमान है। भुजायें दश रही है और हाथ मे एक चक्र रहा है। मूर्ति के दोनों पार्श्वों मे एक-एक द्वारपालिका है जिनमे दायीं ओर वाली एक चमर तथा बायीं ओर वाली एक पुष्प-माला लिए हुए है। ये तीनो प्रतिमायें कुछ खण्डित है। प्रधान मूर्ति के ऊपर पद्मासन व ध्यानस्थ जिन प्रतिमा है, जिसके दोनों ओर वदनमालाये लिए हुए उड़ती हुई मूर्तियाँ बनी है। यह मूर्ति भी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है।[११] अम्बिका देवी की एक उल्लेखनीय पाषाण प्रतिमा १ फुट ९ इंच ऊंची मथुरा संग्रहालय मे है। अम्बिका एक वृक्ष के नीचे सिंह पर स्थित कमलासन पर विराज-मान है। बायां पैर ऊपर उठा हुआ व दाया पृथ्वी पर है। दायें हाथ में फलो का गुच्छा है व बाया हाथ बायीं जंघा पर बैठे हुए बालक को सम्हाले है। बालक वक्ष-स्थल पर झूलते हुए हार से खेल रहा है। अधोभाग वस्त्रालंकृत है और ऊपर वक्षस्थल पर दोनों स्कन्धो से पीछे की ओर डाली हुई ओढ़नी है। सिर पर सुन्दर मुकुट है, जिसके पीछे शोभनीय प्रभाबल है। गले मे दो लड़ियों वाला हार, हाथ मे चूड़िया, कटि में मेखला व

६. वही पृ० ५२।
७. ए० एल० बाशम : अद्भुत भारत, पृ० ३७४ (The wonder that was India का वेंकटेशचद्र पाडेय कृत हिन्दी अनुवाद)।
८. डा. वासुदेव शरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ. २७९।
९. श्री कृष्णदत्त बाजपेयी : मथुरा, पृ० ३५, ३६।
१०. वही, पृ० ३३।
११. डा० हीरालाल : भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, पृ० ३५४।

पैरों में नूपुर आभूषण हैं। बालक नग्न है किन्तु गले मे हार, बाहुओं में भुजबन्ध, कलाई मे कड़े तथा कमर मे करधनी पहने हुए है। अम्बिका की बाजू से एक दूसरा बालक खड़ा है, जिसका दायां हाथ अम्बिका के दायें घुटने पर है। इसके अतिरिक्त, इस अम्बिका मूर्ति के साथ गणेश, कुबेर, नर्तकियां, जिनमूर्ति, बलराम तथा वासुदेव की मूर्ति आदि मूर्तियां हैं। इस प्रकार इसमे जैन व वैदिक परम्परा के अनेक देवी-देवताओ का सुन्दर समीकरण मिलता है।[१२]

मथुरा के कंकाली टीले से एक सरस्वती की मूर्ति प्राप्त हुई है। इसका दाया हाथ अभय मुद्रा मे है और बायें हाथ में पुस्तक लिए है। इसकी स्थापना कुषाण सं० ५४ मे हुई।[१३] सरस्वती की इतनी प्राचीन प्रतिमा अन्यत्र प्राप्त नहीं हुई।[१४] जैन पुराणो मे हिरण, मेढे अथवा बकरा जैसे मुख वाले एक देवता का उल्लेख नैगमर्षि, नैगमेश, नैगमेय, नैगमेशिन, हरिणिगमिसि हरिनैगमेसि, हारि इत्यादि नामो से विभिन्न ग्रन्थो मे हुआ है। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त शुग-शक-कुषाणकालीन प्राचीन जैन अवशेषों मे भी इस देवता के कई मूर्ताङ्कन मिले है जिनमे से एक पर 'भगवनेमेसो' भगवान नैगमेश नाम भी अंकित है। इस देवता को देवराज इन्द्र का अनुचर, इन्द्र की पैदल सेना का कप्तान बताया जाता है और शिशुओ के जन्म, पोषण और सरक्षण से उसका विशेष सम्बन्ध है। हरिवंश पुराण के अनुसार, इस देवता ने कस के बन्दीगृह से देवकी द्वारा प्रसूत शिशुओं को, इन्द्र की आज्ञा से अलका सेठानी की गोद मे स्थानान्तरण कर रक्षा की थी।[१५]

३. **आयागपट्ट तथा वेदिकास्तम्भ**—आयागपट्ट का मूल है आर्यकपट्ट अर्थात् पूजा के लिए स्थापित शिलापट्ट जिस पर तीर्थंकर, स्तूप, स्वस्तिक, नद्यावर्त आदि पूजनीय चिन्ह उत्कीर्ण किए जाते थे। स्तूप के प्रांगण मे इस प्रकार के पूजा शिलापट्ट या आयागपट्ट ऊचे स्थंडिलों पर स्थापित किए जाते थे और दर्शनार्थी उनकी पूजा करते थे। मथुरा की जैन शिल्प कला मे आयागपट्टों का महत्वपूर्ण स्थान है। विशुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से उन पर जो अलंकरणों के संपुजन की छवि है वह नेत्रो को मोहित कर देती है। उदाहरण के लिए, सिहनादिक द्वारा स्थापित आयागपट्ट पर ऊपर-नीचे अष्ट मांगलिक चिन्ह अंकित हैं और दोनो पार्श्वों में से एक ओर चक्रांकित ध्वजस्तम्भ तथा दूसरी ओर गजांकित स्तम्भ है। बीच मे त्रिरत्नो के मध्य मे तीर्थंकर की बद्ध पद्मासन स्थित मूर्ति है। (लखनऊ संग्रहालय जे० २४९)। लखनऊ सग्रहालय मे एक दूसरा आयागपट्ट है (जे० २५०) जिसके मध्य भाग मे एक बड़ा स्वस्तिक अंकित है और उस स्वस्तिक के गर्भ मे एक छोटी तीर्थंकर मूर्ति है। स्वस्तिक के आवेष्टन के रूप मे सोलह देव योनियो से अलकृत एक मण्डल है जिसके चार कोनो पर चार महोरग मूर्तिया है। नीचे की ओर अष्ट मांगलिक चिन्हो की वेल है। इस प्रकार के पूजापट्ट को प्राचीन परिभाषा मे स्वस्तिक पट्ट कहते थे। एक तीसरे आयागपट्ट (लखनऊ सग्र० जे० २४८) पर मध्य मे षोडषा-धर्मचक्र की आकृति अकित है। उसके चारो ओर तीन मण्डल है। पहले मे १६ नन्दिपद, दूसरे मे अष्टदिक्कुमारिकायें और तीसरे मे कुण्डलित पुष्पकर स्रज-कमलो की माला है और चार कोनो में चार महोरग मूर्तिया है। इस प्रकार का पूजापट्ट प्राचीनकाल मे चक्रपट्ट कहलाता था।[१६]

मथुरा सग्रहालय में एक सुन्दर आयागपट्ट है जिसे, उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार लवणशोभिका नामक वेश्या की लड़की वसु ने दान दिया था। इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप का चित्र तथा वेदिकाओ सहित तोरणद्वार बना हुआ है। आयागपट्टो के अतिरिक्त अन्य विविध शिलापट्ट तथा वेदिका स्तम्भ भी मिले हैं, जिन पर जैनधर्म सम्बन्धी मूर्तियां तथा चिन्ह अंकित है। इन कलाकृतियों पर देवता, यक्ष-यक्षी, पुष्पित लता-वृक्ष, मीन, मकर, गज, सिंह, वृषभ, मंगलघट, कीर्तिमुख आदि बड़े कलात्कक ढंग से उत्कीर्ण मिलते है।[१७]

---

१२. वही पृ० ३५५-३५६।

१३. वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ० २८३।

१४. भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ. ३५८।

१५. जैन सन्देश शोधांक, १९७४।

१६. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : मथुरा की जैन कला (महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर, अप्रैल १९६२, पृ० १९-२०।

१७. श्री कृष्णदत्त बाजपेयी : मथुरा पृ० ३३।

४. स्तूप—कंकाली टीले की खुदाई में जैन शिल्प की अद्भुत सामग्री प्राप्त हुई है। इस टीले की भूमि पर एक प्राचीन जैन स्तूप और दो प्रासाद या मन्दिरों के चित्र मिले हैं। अर्हत्नन्द्यावर्त अर्थात् अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ की एक प्रतिमा की चौकी पर खुदे हुए एक लेख में लिखा है कि कोट्टियगण की वज्री शाखा के वाचक आर्य वृद्धहस्ती की प्रेरणा से एक श्राविका ने देव-निर्मित स्तूप में अर्हंत प्रतिमा स्थापित की।[18] यह लेख संवत् ८९ अर्थात् कुषाण सम्राट वासुदेव के राज्यकाल का ई० १६७ का है। बूलर, स्मिथ आदि विद्वानों का विचार है कि उस समय स्तूप के वास्तविक निर्माणकर्ताओं के विषय में लोगों का ज्ञान विस्मृत हो गया था और उसके लिए देव निर्मित इस नाम की कल्पना संभव हुई।[19]

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

□

दूसरा जैन स्तूप कुषाणकाल में बनवाया गया। इसमें अनेक लेख लिखवाए गए जिन पर कुषाण संवत् में तिथियां दी गई हैं। यह नए स्तूप की विशेषता थी। इन लेखों से उस समय के माथुर जैन संघ पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। गच्छ, पुर और शाखाओं के जो नाम आए है वे ही भद्रबाहु के कल्पसूत्र में है।[20]

जैन स्तूप के वास्तु विन्यास का स्वरूप लगभग वही था जो बौद्ध स्तूपों का था। जैन स्तूप के मध्य में बुद-बुदाकार, बड़ा और ऊंचा व्यूहा होता था और उसके चारों ओर वेदिका और चार दिशाओं में चार द्वार तोरण होते थे। उसके ऊपर भी हर्मिका और छत्रावली का विधान रहता था। वह भी वेदिका सहित त्रिमेधियों पर बनाया जाता था। उसके चार पार्श्वों में तीर्थंकरों की मूर्तियां लगाई जाती थीं। वेदिका के स्तम्भों पर शाल-भञ्जिका मूर्तियों की रचना की जाती थी। उनके बहुत से नमूने कंकाली टीले से मिले है और अब लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है। वेदिका का निर्माण वास्तु विन्यास का उत्कृष्ट कर्म था। उसमें ऊर्ध्व स्तम्भ, आड़ी सूचियां, उष्णीष, आलम्बन, तोरण, पार्श्वस्तम्भ, धार्मिक चिन्ह, स्तम्भ और आयागपट्ट संज्ञक उत्कीर्ण शिलापट्ट, तोरणद्वारों के मुखपट्ट, पुष्पधानी या पुष्प ग्रहणी वदि-कायें, सोपान, उतार-चढ़ाव की छोटी पार्श्वगत वेदिकाये और ध्वजस्तम्भ आदि नाना प्रकार की सामग्री लगाई गई थी। इन स्तूपों का रूप-सम्पादन बड़े उत्साह से किया जाता था। उनके शिल्पी शिल्प-कौशल में निष्णात थे।[21]

वर्द्धमान कालेज,
बिजनौर (उ० प्र०)

१८. इपिग्राफिका इंडिका, भाग २, लेख २०।
१९. महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर, पृ० १७।
२०. भारतीय कला पृ० २८०।
२१. वही पृ० २६३।

अनेकान्त

☐ डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर

भगवान महावीर प्रणीत दर्शन के चिन्तन की शैली का नाम अनेकांत दृष्टि, और प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। अनेकात दृष्टि का तात्पर्य है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार। वस्तु म अनेक धर्म होते है, अतः सभी धर्मों के प्रति समान सद्भावना ही अनेकान्त दृष्टि का कार्य है, यथा—

'अनेके अन्ता. धर्माः यस्मिन् अनेकान्त.'

तात्पर्य यह है कि वस्तु के स्वरूप का सभी दृष्टियो से प्रतिपादन। जो वस्तु नित्य मालूम होती है, वह अनित्य भी ह। जहा नित्यता का प्रतीति हाता है वहा अनित्यता क अभाव म नित्यता का पहचान नहीं हो सकती। नित्यता और अनित्यता सापक्ष ह।

"अनकात" शब्द बहुव्रीहि समासयुक्त है जिसका तात्पर्य है अनेक अर्थात् एक स अधिक धर्मो, रूपो, गुणो और पर्यायो वाला पदाथ। पदाथ अनेक गुण रूपात्मक होन के साथ विवक्षा और दृष्टिकोणा क आधार पर भी अनकात है, यथा "यदव तत् तदव अतत् यदवैक तदवा-नक यदव सतत् दवासत् यदव नित्य, तदवानित्य—मित्यकवस्तु—वस्तुत्वनिस्पादपरस्परविरुद्धशक्ति - द्वय प्रकाशनमनकान्त।'

अर्थात् जो वस्तु तत्स्वरूप है वही अतत्स्वरूप भी है, जो वस्तु एक है वही अनेक भी ह, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है। जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है। इस प्रकार अनकान्त एक ही वस्तु म उसक वस्तुत्व गुण पर्याय सत्ता क निष्पादक अनेक धम युगलो का प्रकाशित करता है। इस स्पष्टत. इस उदाहरण म भी परख—

"सदसन्नित्यानित्यादिससर्थकात प्रतिक्षेपलक्षणो अनकान्त"

वस्तु सत् अथवा असत् है, नित्य है अथवा अनित्य आदि परखने की पद्धति का नाम अनेकांत है। वस्तु के परखने की अनुभनि-अभिव्यक्ति एक साथ ही नहीं वरन् क्रमानुसार ही होती है। इसी क्रमबद्ध अभिव्यक्ति की पद्धति को स्याद्वाद कहा गया है। स्यात् शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारण, अनेकांत—सशय प्रश्न आदि अनेक अर्थ है। महावीर ने इसे अनेकात कहा या स्याद्वाद् अर्थात् अने-कान्तात्मक वाक्य जिसका स्पष्ट रूप है सुनिश्चित दृष्टिकोण।

अनेकात शब्द वाच्य है और स्यादवाद् वाचक। स्यात् शब्द जोकि निपात है, एकात का खण्डन करके अनेकात का समर्थन करता है, यथा—वाक्येस्वनेकातद्योती गम्य प्रति विशेषकः। स्यान्निपातोर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि, १०३ (आप्तमीमासा)। भगवान महावीर ने वस्तु की यथार्थता को उजागर करने के लिए ही इसकी उपयोगिता को अक्षुण्ण माना है, इसकी स्पष्टता को इस प्रकार भी परखें—

सर्वथात्वनिषधको अनेकान्तताद्योतकः
कथ चिदर्थेस्यात् शब्दो निपात् (पचास्तिकाय)

यही नही वरन् स्याद्वाद मजरी मे भी बताया गया है कि स्यादित्यव्ययमनेकान्तताद्योतकं ततः स्याद्वाद् अनेकान्तवाद इति। अनेकान्त वस्तु की अनेकान्त अनेक धार्मिकता सिद्ध करता है और स्वाद्वाद उसकी व्याख्या करने मे एक सापेक्षिक मार्ग का सूत्रपात करता है, जब कि सप्तभगी उस मार्ग का व्यवस्थित विश्लेषण कर उसे पूर्णता प्रदान करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि वस्तु यथार्थता को परखने के लिए **अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी** की अक्षुण्ण उपयोगिता है।

अनेकान्त प्रमाण और नय की दृष्टि से कथंचित अनेकान्त रूप और कथचित एकान्तरूप है। प्रमाण का विषय होने से वह अनेकान्त रूप है। सामान्यतः इसके दो भेद इस प्रकार है :—(१) सम्यगनेकान्त और मिथ्या

अनेकान्त। परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों का सकल भाव से ग्रहण करना सम्यगनेकान्त है और परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों का ग्रहण मिथ्या अनेकान्त है। अन्य सापेक्ष एक धर्म का निषेध करके एक की अवधारणा करना ही मिथ्यैकान्त है।[1]

अनेकान्त अर्थात् सकलादेश का विषय प्रमाणाधीन होता है और यह एकान्त की अर्थात् नयाधीन विकलादेश के विषय की अपेक्षा रखता है। यही तथ्य यू परखं।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तप्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।[2]

अर्थात प्रमाण और नय का विषय होने से अनेकान्त, अनेक धर्मवाला पदार्थ भी अनेकान्त रूप है वह जब प्रमाण के द्वारा समग्रभाग से गृहीत होता है तब वह अनेकान्त अर्थात धर्मात्मक है और जब किसी विवक्षित नय का विषय होता है तब एकान्त, एक धर्म रूप है। उस समय शेष धर्म पदार्थ मे विद्यमान रहकर भी दृष्टि के सामने नहीं होते। इस तरह पदार्थ की स्थिति हर हालत मे अनेकान्त रूप ही सिद्ध होती है।

अनेकान्त दृष्टि या नय दृष्टि विराट वस्तु को जानने का वह प्रकार है जिसमे विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नही किया जा सकता, वरन् उन्हे गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है। इस प्रकार, जब मनुष्य की दृष्टि अनेकान्त को दृष्टिगत करने वाली बन जाती है तब उसके समझाने का ढंग भी निराला हो जाता है, अर्थात् वस्तु तत्व का यथार्थ प्रतिदिन किया जाता है।

अनेकान्त की वरीयता को परख कर ही आचार्य हेमचंद ने वीतराग स्तोत्र मे कहा है कि —

विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम्।
इच्छस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
चित्रमेकमनेकं च रूपम् प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वापि नानेकान्तप्रतिक्षिपेत॥
इच्छन् प्रधान सत्वाद्यै विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः।
साङ्ख्यसंख्यावतां मुख्योनानेकान्त प्रतिक्षिपेत॥[3]

अर्थात एक ज्ञान को अनेकाकार मानने वाले समझदार बौद्धों को अनेकान्त का प्रतिक्षेप नहीं करना चाहिए उसी अनेक आकार वाले एक चित्र रूप को मानने वाले नैयायिक और वैशेषिकों को अनेकान्त प्रतिक्षेप नही करना चाहिए। सांख्याचार्यों व अन्य को भी इसका प्रतिक्षेप नही करना चाहिए क्योकि अनेकान्त तो वस्तु के यथार्थ रूप को परखने का माध्यम है।

प्रत्येक वस्तु विराट है और अनन्त-अनन्त अंशों धर्मों गुणों और शक्तियों का पिंड है अर्थात वस्तु का अनेक धर्मात्मक होना स्वाभाविक है।[4]

एक मनुष्य जिस रूप में वस्तु को देख रहा है उसका स्वरूप उतना ही नही वरन् विभिन्न दृष्टिकोणों से कुछ और भी है। जल यदि एक मनुष्य की प्यास बुझाकर तृप्ति प्रदान करता है, तो वही जल एक हैजे के रोगी के लिए विष तुल्य मृत्यु का कारण भी बन जाता है। इसी प्रकार यदि दूध स्वास्थ्यवर्द्धक है तो वही अतिसार के रोगी के लिए विष तुल्य मृत्यु का कारण भी है। कहने का तात्पर्य कि एक ही वस्तु विविध रूप प्रकट करने म सक्षम है।

वस्तु बोध ही धर्म और दर्शन का उद्देश्य है बोध मुक्ति का साधन है यदि बोध के साथ नम्रता, उदारता, निष्पक्षता, सहिष्णुता और सात्विक जिज्ञासा है तब वह आत्म विकास की सीढी है।

अनेकान्त दृष्टि परस्पर विरोधी वादो का समन्वय करने वाली परिपूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करने वाली और बुद्धि में उदारता, नम्रता, सहिष्णुता तथा सात्विकता उत्पन्न करने वाली है। यह विश्व दर्शन के लिए एक अनुपम थाती है। □□

मेघनगर (म० प्र०)

१. डा० महेन्द्रकुमार— जैन दर्शन, पृ० ५२५।
२. वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र १०२।
३. वीतराग स्तोत्र, ८ से १०।
४. स्याद्वाद मन्जरी, कारिका-५।

एलाचार्य : शब्द-मीमांसा

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच (म० प्र०)

[प्रत्येक लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होता है। प्रस्तुत लेख के विद्वान् लेखक ने भी अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त किये हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादन-मण्डल लेखक के सभी विचारों से सहमत हो।—सम्पादक]

प्रत्येक भाषा के शब्द रूपो के निर्माण के अपने कुछ नियम होते है। उन नियमों के अनुसार ही उसकी शब्द-सम्पदा का वैभव वृद्धिगत होता रहता है। उस सम्पत्ति को देख कर हम किसी भी युग में उस भाषा की शब्द-सामर्थ्य, शब्द-निर्माण की क्षमता, रूपगत विकास एव आकृति का निर्णय कर सकते हैं। इसी सन्दर्भ मे प्रस्तुत "एलाचार्य" शब्द का विचार करना ही हमे इष्ट है।

जैन समाज का बौद्धिक वर्ग यह भली भांति जानता है कि जब से उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्द जी को 'एलाचार्य' पद से विभूषित किया गया, तब से इस शब्द की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट हुआ है। जिन्होने कभी "एलाचार्य" नाम तक नही सुना था, वे भी इसके विषय मे जिज्ञासा रखते है। कई लोग पूछ चुके है कि यह कौन-सा पद है ? तथा "एलाचार्य" का मतलब क्या होता है ?

सर्वप्रथम हमे यह देखना है कि "एलाचार्य" शब्द किन-किन ग्रन्थों में आया है ? यह तो निश्चित है कि प्राकृत तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में रचित जिनागम में उक्त शब्द का प्रयोग हुआ है। मूल ग्रन्थों के उद्धरण इस प्रकार हैं—

एलायरियस्स दिणाण दस, आयरियस्स पण्णरस दिवसा।
छिज्जंति परगणगयस्स, पुण दसपण्णस्स वीसदिणा ॥
— प्रायश्चित्त ग्रन्थ गा० २५७

(१) एलायरियस्स दिणाण ...... छेदपिंड, गा० २५१।

(२) जस्साएसेण मए सिद्धांतमिदं हि अहिलहुदं।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥
—धवला टीका, पुस्तक १६, अन्त्यप्रशस्ति, गा० १

(३) "एदेण वयणेण सुत्तस्स देसभासियत्तं जेण जाणाविद तेण चउण्ह गईण उतुच्चारणाबलेण एलाइरियपसाएण य मेमकम्माणा रूवणा कीरदे।"
—कषायपाहुड, भा० ४ पृ० १६६।

(४) "एत्थ एलाइरियवच्छयस्स णिच्छओ ......"
—जयधवला, प्रे० पृ० १६५३।

(५) "एत्थ ण बाहइ जीवमसेलाइरिवच्छओ अलद्धोवदेसत्तादो, दोण्हमेकस्स बाहाणुवलम्भादो।
—कषायपाहुड, भा० १, पृ० ८१।

(६) काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्वज्ञः ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितमनिबन्धनाद्याधिकारानष्ट च लिलेख ॥
—इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, श्लो० १७७, १७८।

इनके अतिरिक्त, "कषायपाहुड" मे "एलाइरिय" शब्द कई स्थानो पर मिलता है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने स्वय मतभेदो का उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि भट्टारक एलाचार्य के द्वारा उपदिष्ट व्याख्यान समीचीन होने के कारण ग्रहण करने योग्य है। उनके ही शब्दों में—

"तदो पुव्वुत्तमेलाइरियभडारएण उवइट्ठवक्खाणमेव पट्ठाणभावेण एत्थ घेतव्व।"
—कषायपाहुड, भा० १, पृ० १६२।

उक्त सभी प्रसगो को ध्यान से देखने पर स्पष्ट है कि "छेदपिण्ड" को छोड़ कर सभी स्थलों पर "एलाइरिय" शब्द अभिधानवाचक है। आचार्य वीरसेन के गुरु

का नाम एलाचार्य था। वे चित्तौड़ (राजस्थान) मे निवास करते थे। जैन आगम साहित्य मे "एलाचार्य" नाम के अन्य विद्वानों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पं० परमानन्द शास्त्री ने "जैनधर्म का प्राचीन इतिहास" (भाग २) मे सूरस्त गण के विद्वान रविनन्दी आचार्य के शिष्य व तपस्वी एलाचार्य का परिचय दिया है। अपने उसी ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने कोण्डकुन्दान्वय के भट्टारक कुमारनन्दि के शिष्य "एलाचार्य" का भी उल्लेख किया है, जिनके शिष्य वर्धमान गुरू थे। सम्भव है कि 'एलाचार्य और 'एलवाचार्य' एक ही व्यक्ति का नाम रहा हो, जो बोली-भेद से उच्चारण मे भिन्न रहा हो। दोनों का समय भी लगभग समान कहा जाता है।

'एलाचार्य' शब्द के अर्थ का विचार करें, इसके पहले यह उचित प्रतीत होता है कि शब्द-रचना की दृष्टि से मीमासा करना उपयुक्त होगा। 'एलाचार्य' प्राकृत 'एलाइरिय' शब्द का रूपान्तरण है। प्राकृत और सस्कृत दोनों शब्द दो-दो शब्दो से सयुक्त होकर बने है, जैसे कि—

१. एल+आइरिय।

२. एल+आचार्य।

इन दोनों शब्दों मे 'एल' मूल शब्द है। आचार्य शब्द सामान्य है। आचार्य शब्द के कई अर्थ है। प्रकरण के अनुसार अर्थवाचक होता है। जैन शास्त्रो में गृहस्थाचार्य, नियापिकाचार्य, शास्त्राचार्य, सिद्धान्ताचार्य आदि शब्दो मे सामान्य अर्थ म ही 'आचार्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। जो अपने-अपने विधि-विधानो को विशेष रूप से जानते हो, विज्ञ हो, उनको सामान्य रूप से आचार्य कहा जाता है, जैसेकि—जो प्रतिष्ठा की विधि भली भाति जानता हो, उसे प्रतिष्ठाचार्य कहते है। इनके अतिरिक्त छत्तीस गुणों के धारक जैनाचार्य साधु की विशिष्ट संज्ञा है। उससे यहां कोई अभिप्राय नही है। जिनागम मे आचार्य परमेष्ठी के किसी भेद का वर्णन नही मिलता। साधु आचार्य उसे कहते है, जो पाच प्रकार के आचार का पालन करते है। आचार्य के ३६ गुण है—बारह प्रकार के तप, छह आवश्यक, पाच प्रकार के आचार, दस प्रकार के धर्म और तीन गुप्तियों का पालन करने वाले।

'एलाचार्य' शब्द की मीमांसा करते हुए सर्वप्रथम 'एल' शब्द का विचार करना इष्ट है। यह विचारणीय है कि 'एल' शब्द' प्राकृत का है या संस्कृत का है? इस शब्द का मूल सस्कृत प्राकृत के शब्दकोशो को पलटने से 'एल' शब्द का एक ही अर्थ लक्षित हुआ है, जो इस प्रकार है—

एलो कुसले एक्को णेहपरे चंदणम्पि एक्कंगं।
एत्तोप्प एअप्पहुदि अ पविसंतम्मि एमाणो॥

—देशीनाममाला, १, १४४

'पाइअसद्दमहण्णव' मे 'एल' शब्द के दो अन्य अर्थ हे —मृगो की एक जाति, भेड़। ये दोनों ही अर्थ सस्कृत से आगत प्रतीत होते है। प्राकृत मे यह एक देशी शब्द है जो कुशलता का वाचक है। दूसरे शब्दो मे, कुशल आचार्य को 'एलाइरिय' या 'एलाचार्य' कहा जाता था। यह शब्द भारतीय आर्यभाषाओं के विकास-काल मे प्रयुक्त नही होता था। किसी प्राचीन परम्परा से आगत शब्द है।

इस शब्द की रचना-प्रवृत्ति यह रही है कि चाहे प्राकृत हो, चाहे संस्कृत दोनो मे समान रूप से एक जैसी रूप-रचना मे इसका प्रचलन रहा है; जैसे कि—एलाचार्य, बालाचार्य, कालकाचार्य आदि।

मूल शब्द भी एक जैसी रचना की समानता को घोषित करने वाले है; जैसे कि—एल, वेल, फेल आदि। 'एल' शब्द से 'य' स्वार्थिक प्रत्यय जुड़ कर प्राकृत में 'एलय' तथा संस्कृत मे 'क' स्वार्थिक प्रत्यय संयुक्त होकर 'एलक' शब्द की रचना हुई। जैन शास्त्रों मे 'ऐलक' और 'क्षुल्लक' दोनो शब्द 'बाल' या 'लघु' अर्थ मे प्रयुक्त होते है।

केवल एलाचार्य, बालाचार्य ही नही हेलाचार्य, कूविलाचार्य, गोल्लाचार्य, तुम्बुलूचार्य, तोरणाचार्य, उग्रदित्याचार्य तथा महावीराचार्य जैसे नाम भी जैन इतिहास मे मिलते है। कुछ नामो के अभिधान का कारण उन-उन स्थानो म निवास करने वाले व्यक्ति को वहा का कहा जाता है; जैसेकि - कोण्डकुन्द' (कोण्डकुण्डल) स्थान के निवासी होने के कारण आचार्य कुन्दकुन्द को 'कोण्डकुन्दाचार्य' कहा जाता था। इसी प्रकार, 'गोल्ल' देश के राजा होने के कारण गोल्लाचार्य नाम प्रसिद्ध हो गया।

इसी तरह, आचार्य वीरसेन के गुरू भी किसी 'एल' ग्राम के निवासी रहे हों, जिसके कारण उनका नाम 'एलाचार्य' पड़ गया हो।

जैसे कि पंचपरमेष्ठी के पदो मे 'आचार्य' एक पद है, वैसे ही क्या 'एलाचार्य' भी कोई पद है? जब मैं यह लेख लिख रहा हूं, तभी गुरुवर्य सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री का एक लेख 'एलाचार्य पद कल्पना' देखने मे आया। इस लेख मे कई महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया गया है। प्रथम यह 'आचार्य कुन्दकुन्द को और वीरसेन स्वामी के गुरु को उनके विशिष्ट गुणों के कारण यह पद दिया गया था, यह कहा लिखा है?' (जैन सन्देश, पृ० २४६)।

दूसरे, टीका ग्रन्थों में 'एलाचार्य' और 'बालाचार्य' समान अर्थ में प्रयुक्त हुए है। तीसरे, जब कोई आचार्य समाधि ग्रहण करता है, तो वह अपने योग्य शिष्य को आचार्य बनाता है। समाधि का काल बारह वर्ष तक है। इतने लम्बे काल तक यदि आचार्य जीवित रहते है, तो उनके द्वारा स्थापित आचार्य एलाचार्य या बालाचार्य कहलाता है। (वही, पृ० २५०)।

यह निश्चित है कि 'एलाचार्य' के पद के सम्बन्ध मे 'भगवती आराधना' और 'मूलाचार' ग्रन्थों मे मुख्य रूप से विवरण मिलता है। यहा पर निम्नलिखित उद्धरणो के आधार पर सक्षिप्त विचार प्रस्तुत हे :—

(१) 'अनुगुरोः पश्चात् दिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनुदिक् एलाचार्यस्तस्मै विधिना।'—मूलाराधना भा० १, गा० १७७ की टीका।

अर्थात्—गुरू के पश्चात् जो मुनि चरित्र का क्रम मुनि और आर्यादिक को कहता है, उसको अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते है। अनुदिश का अर्थ क्या है? यह भी उसी ग्रन्थ से जानना चाहिए। कहा है—

काल संभाविता सव्वगणमणुदिस च वाहरिय।
सोमतिहिकरणणक्खतविलग्गे मगलोगासे ॥
—मूलाराधना, गा० २७३

इस गाथा की विजयोदया टीका मे लिखा है—'सव्वगणं सर्वगणं अणुदिस च बालाचार्य च। वाहरिय व्याहृत्य।' (पृ० ४५२)।

भाव यह है कि सल्लेखना के लिए उद्यत आचार्य अपनी अवशिष्ट आयु का विचार कर अपने शिष्य समुदाय को और अपने स्थान में जिसकी स्थापना की है ऐसे बाल आचार्य को बुला कर सौम्यतिथि, करण, नक्षत्र और लग्न के समय शुभ प्रदेश मे बालाचार्य को अपना गण विसर्जित कर देते है।

इस प्रकरण में 'बालाचार्य' कोई पद नही है। जैसे कि बालाचार्य, युवाचार्य, वृद्धाचार्य अवस्था से सम्बन्ध रखने के कारण प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं, वैसे ही यहां पर जिसने अभी-अभी गण को सम्हाला है, वह 'बालाचार्य' कहा गया है। वास्तव मे पद तो 'आचार्य' का है, 'बाल' शब्द तो दशा का वाचक है। गण की परिपाटी चलाने के लिए इस विधि का निर्देश किया गया है। जैसे बालमुनि, वृद्धमुनि का व्यपदेश किया जाता है, उसी प्रकार बालाचार्य या एलाचार्य समझना चाहिए।

'भगवती आराधना' की गाथा २७५ की मूलाराधना टीका मे 'दिसं' का अर्थ 'एलाचार्य' किया गया है किन्तु 'विजयोदया' में 'दिस आचार्य' कह कर आचार्य अर्थ किया गया है। वास्तव मे क्या शब्द-रचना की दृष्टि से, क्या शब्द से और क्या अर्थ से प्राकृत का 'एल' शब्द सस्कृत 'बाल' का वाचक हे। दोनों के मूल भाव में आज भी 'अज्ञानता' का भाव छिपा हुआ है। आगम में बाल आचार्य ही नहीं ज्ञानबाल और चारित्रबाल का विवरण भी मिलता है। उक्त अभिप्राय का समर्थन निम्नलिखित गाथा से भी होता है। कहा है—

आगमदो जो बालो परियाएण व हवेज्ज जो बालो।
तस्स सगं दुच्चरियं आलोचेदूण बालमदी ॥
—मूलाराधना, गा० ५६८

जो मुनि आगम से बाल है अर्थात् जिसको आगम का ज्ञान नही है तथा जो चारित्रबाल है अर्थात् चारित्र भी जिसका श्रेष्ठ नही है उसको बाल कहते हैं। ऐसे मुनि के पास जाकर कोई कल्पज्ञानी मुनि अपने दोषों की आलोचना करता है।

यथार्थ में प्राकृत के 'एल' और संस्कृत के 'एलक' या 'एला' अथवा 'ऐलक' शब्द में अर्थ-भेद होने पर भी मूल भाव में कोई अन्तर नही है। सस्कृत में 'एला' इलायची को कहते है। यह अर्थ उसके लघु आकार के कारण प्रसिद्ध हुआ है।

□□□

२४३, शिक्षक कालोनी, नीमच (म० प्र०)

श्रमण-संस्कृति का उदात्तदृष्टिकोण

☐ प्रो० श्री रंजन सूरिदेव, पटना

मानव समाज में जब वैचारिक ह्रास आ जाता है, तब उसमें संकीर्णता का प्रवेश होता है और उसकी चिन्तन धारा का उदात्त दृष्टिकोण संशय के धुंधलके में दिग्भ्रान्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में विशेष रूप से जाति और धर्म ही संकीर्णता के प्रवेश-द्वार हुआ करते है। जाति और धर्म के प्रति दुराग्रह या हठाग्रह ही वैचारिक संकीर्णता को जन्म देता है। इस संदर्भ में श्रमण-संस्कृति का दृष्टिकोण इसलिए उदात्त है कि वह वैचारिक संकीर्णता का सर्वथा प्रत्याख्यान करती है।

श्रमण-संस्कृति और वैदिक संस्कृति के बीच, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खींची जा सकती। ये दोनों संस्कृतियां चक्रगति के अनुक्रम से समय-समय अपनी सत्ता स्थापित करती रही है। जिस संस्कृति में जितनी अधिक वैचारिक उदारता रहेगी, उसकी सत्ता उतनी ही अविचल और लोकादृत होगी। अधुना श्रमण-संस्कृति के प्रति अत्यधिक लोकाग्रह का कारण उसकी वैचारिक उदारता ही है।

कोई भी संस्कृति मानव-जिजीविषा की पूर्ति के साधनों की प्राप्ति के उपायों का समर्थ निर्देश तभी कर सकती है, जब कि वह वैचारिक दृष्टि से अपने को कभी अनुदार नही होने देती। इसीलिए, जनकल्याण के निमित्त वैचारिक उदारता की शर्त आवश्यक ही नही, अनिवार्य मानी गई है। लोकमार्ग का नेतृत्व वही कर सकता है, जो विचार से उदार होता है और आचार की दृष्टि से 'आत्मनेपदी' जो आचार की दृष्टि से केवल 'परस्मैपदी' होता है, उसका विचार या आचार कभी लोकग्राह्य नही होता। इसीलिए, सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में आत्मचिन्तन को सर्वोपरि महत्व दिया गया है।

उदारवादी दृष्टि से यह स्पष्ट है कि आत्मचिन्तन का सम्बन्ध आत्म-संयम या आत्मनियन्त्रण या आत्मदमन से जुड़ा हुआ है। श्रमण तीर्थंकर भगवान् महावीर ने आत्मदमन को बड़ा कठिन बताया है। उन्होंने कहा है :

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सि लोए परत्थ य ॥
—(उत्तरा०, १।१५)

निश्चय ही, दुर्दम आत्मा का दमन करने वाला व्यक्ति ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है। आत्मदमन आत्मपीडन का पर्याय है। आत्मा के अनुकूल वेदनीय सुख है और प्रतिकूल वेदनीय दुःख। तीर्थंकर पुरुष चूंकि सर्वभूतहित के आकांक्षी होते है, इसलिए वे प्रतिकूल वेदनीयता पर विजय पाने के निमित्त आत्मदमन या आत्मपीड़न करते हैं, अर्थात् परत्राण के लिए प्रतिकूल को अनुकूल बनाकर आत्मसुख अनुभव करते हैं और सही मायने मे उदार व्यक्ति वही होता है, जो परदुःख के विनाश के लिए आत्मदुःख के वरण करने में ही सुख का अनुभव करता है। इसीलिए, 'वसुदेवहिण्डी' के 'धम्मिल्लचरित' मे धर्म की परिभाषा करते हुए संघदासगणिवाचक ने कहा है—'परस्स अदुक्खकरणं धम्मोत्ति।' इस प्रकार, सम्पूर्ण श्रामण्य संस्कृति पर-दुःख की विनाशमूलक उदारता की उदात्त भावना से ओतप्रोत है।

भगवान् महावीर के पंचयाम धर्म में श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का ही भव्यतम विनियोग हुआ है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांचों साधारण जन जीवन को उदात्त दृष्टिकोण से सवलित करने वाले ऐसे विचार-बिन्दु है, जिनसे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपलब्धि सम्भव होती है और मोक्ष का मार्ग उद्घाटित होता है।

लोकैषणा या लोकहित श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का महनीय पक्ष है। आधुनिक लोकदृष्टि इसलिए अनुदार हो गई है कि वह हिंसा, असत्य, चौर्यवृत्ति, कामलिप्सा और संचय-वृत्ति से आक्रांत है। अनुदारता ही संकीर्ण विचार की जननी है। आज के वक्रजड़ लोग दुर्व्याख्या के विष मे मूर्छित है। आत्महित के लिए परहित का प्रत्याख्यान उनका धर्म हो गया है। आस-पड़ोस के जलते हुए घरो के बीच अपने घर को सुरक्षित समझने का प्रमाद ही उनका आत्मसंस्कार बन गया है। परदुःख के विनाश मे आत्मसुख को सही न मानकर वे आत्मसुख को परदुःख का कारण बनाना उचित समझते है। श्रमण-संस्कृति इसी अनुदार दृष्टि के निर्मूलन के प्रयास के प्रति सतत आस्थाशील है।

श्रमण-संस्कृति अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के उदात्त दृष्टिकोण की त्रिपुटी पर आधृत है। अनेकान्त की उदार विचारधारा श्रमण-संस्कृति का महार्घ अवदान है। अनेकान्त यदि वैचारिक उदात्त दृष्टिकोण का प्रतीक है, तो अहिंसा और अपरिग्रह आचारगत उदारता का परिचायक। श्रमण-संस्कृति का अहिंसावाद भी सीमित परिधि की वस्तु नहीं है। प्राणिवध जैसी द्रव्यहिंसा से भी अधिक व्यापक भावहिंसा पर श्रमण-संस्कृति बल देती है। उसका मन्तव्य है कि मूलतः भावहिंसा ही द्रव्यहिंसा का कारण है। यदि भावहिंसा पर नियन्त्रण हो जाय, तो फिर द्रव्यहिंसा का प्रश्न ही नही उठे। आज सामाजिक जीवन मे भावहिंसा की प्रधानता से ही द्रव्यहिंसा होती है और यही फिर भयकर युद्ध और भीषण रक्तपात मे परिणत हो जाती है।

जाति और धर्म की भावना में सकीर्णता आने पर हिंसा का उदय स्वाभाविक है। इस स्थिति मे पुण्य की परिभाषा परोपकार न होकर सामान्य वैयक्तिक पूजा-पाठ में नि.शेष हो जाती है। जात्यभिमान हमे अधःपतन की ओर ले जाता है और इससे हम मानवता का निरादर कर बैठते हैं। इसीलिए, भगवान् महावीर ने कर्मणा जाति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा :

कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइस्सो होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

— उत्तरा०, २५।३१

अहिंसावाद पर अनास्था के कारण हो आज समाज में जातिगत हीनभावना का विस्तार हो रहा है। जाति के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण उदात्त नही रह गया है। हम इसीलिए ऊँच-नीच, छुआछूत आदि के घेरे में बन्दी बनते जा रहे है। श्रमण-संस्कृति इसी दुरभिमान को चुनौती देती है और सघोष उद्घोषणा करती है : 'मेत्ती मे सव्वभूएसु।'

सामाजिक अवधारणा के सदर्भ में अपरिग्रहवाद भी श्रमण-सस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का परिचय प्रस्तुत करता है। अपरिग्रह का तात्पर्य धन के प्रति स्वामित्व की भावना का परित्याग है। अनावश्यक संचय से सामान्य लोकजीवन को कष्ट पहुंचता है। घूसखोरी, जमाखोरी, मिलावट, तस्करी आदि का व्यापार परिग्रह का ही जघन्यतम रूप है। हम धन से दूसरे की सहायता करते भी है, तो स्वामित्व की भावना रखकर ही। स्वामित्व की भावना का त्याग हम नही कर पाते। इसमे अपरिग्रह का सही रूप तिरोहित ही रह जाता है; और फिर, हम संकीर्ण भावना से ऊपर नही उठ पाते, हमारा वैचारिक दृष्टिकोण उदात्त नही हो पाता। श्रमण-संस्कृति अपरिग्रह के माध्यम से हमें उदात्त दृष्टिकोण प्रदान करती है, जिससे हमारे अन्तर्मन मे सर्वोदय की भावना का संचार होता है और जनमानस ग्रहण की सकीर्ण भावना से त्याग की उदात्तभूमि की ओर अभिमुख होता है।

श्रमण-संस्कृति का अनेकान्तवाद उसकी उदात्त दृष्टि का एक ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का जीवन-दर्शन आलोकित है। अनेकान्त, जनसमुदाय को दुराग्रहवादिता की सकीर्ण मनोवृत्ति से मुक्त होने की प्रेरणा देता है। दर्शन के क्षेत्र में या फिर जीवन के व्यावहारिक जगत् मे व्याप्त श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की भावना के व्यामोह का विलोप अनेकान्त से ही सम्भव है। नीर-क्षीर विवेक की सम्प्राप्ति एकमात्र अनेकान्त से ही हो सकती है। सत् के प्रति आसक्ति और असत् के प्रति वैराग्य अनेकान्त की भावना से ही आता है।

भाषिक शुद्धि की दृष्टि से स्याद्वाद और वैचारिक शुद्धि की दृष्टि से अनेकान्तवाद की स्थापना श्रमण-सस्कृति की उदात्तता ही पार्यन्तिक रूप है। आज हम किसी वस्तु को एकान्त दृष्टि से सत्य मानने का भ्रम पालते है। किन्तु, अनेकान्तवाद इस भ्रम को दूर करता है। किसी वस्तु को हम एकान्त दृष्टि से सत्य मानकर अपनी अनुदात्त दृष्टि का ही परिचय देते हैं। कोई भी मानव एकान्त भाव से पूर्ण नही होता। यदि हम किसी दर्शन तत्वज्ञ को पण्डित मान लेते है, तो यह एकान्त दृष्टि हुई। सम्भव है, उस पण्डित को सांख्यिकी मे तत्वज्ञता प्राप्त नही, तो फिर उसे एकान्त भाव से पण्डित कहना उचित भी नही। अनेकान्त दृष्टि से दर्शन की अपेक्षा यदि वह पण्डित है, तो सांख्यिकी की अपेक्षा पडित नही भी है : इसी विचारधारा के आधार पर अनेकान्त मे 'सप्तभंगी नय' की प्रतिष्ठा हुई है। इस नय के द्वारा हम

एकान्त से अनेकान्त की ओर प्रस्थान करते है, जहाँ हमें सम्पूर्ण जागृतिक स्थिति का सही अभिज्ञान प्राप्त होता है और उदात्त दृष्टिकोण से संवलित होने का अवसर मिलता है। सर्वधर्मसमन्वय की समस्या का समाधान भी अनेकान्त ही दे सकता है।

ज्ञान और दया श्रमण-संस्कृति के मेरुदण्ड है। ये दोनों ऐसे दिव्य तत्त्व है, जिनमें उदात्त दृष्टिकोण का अपार सागर तरंगित होता रहता है। कोई भी ज्ञानी पुरुष अनुदार नही हो सकता और किसी भी दयालु की विचारधारा सकीर्ण नही होती। किन्तु, दया की भावना का उदय विना ज्ञान के सम्भव नही। इसीलिए, जिनवाणी की मान्त्रिक भाषा है: 'पढमं णाण तओ दया।' श्रमण-संस्कृति मे ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। ज्ञान भी ऐसा, जो स्व और पर को समान रूप से आभासित करे और उसमे किसी प्रकार का बाधा-व्यवधान न हो। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने कहा है: 'प्रमाण स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।' उदात्त दृष्टिकोण के लिए ज्ञान का होना अनिवार्य है और ज्ञान का क्रियान्वयन दया-भावना से ही सम्भव है। ज्ञान की ही सक्रिय अवस्था दया है। ज्ञान की सक्रियता के लिए दया अनिवार्य है। कहना चाहिए कि ज्ञान और दया दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसीलिए, अनन्त ज्ञान से सम्पन्न तीर्थंकर 'दयालु' या 'कल्याणमित्र' की संज्ञा से सम्बोधित हुए।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या में भी श्रमण-संस्कृति ने उदार दृष्टिकोण से काम लिया। है अन्यत्र जहाँ 'मरण विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' का कठोर निर्देश मिलता है, वहा श्रमण-संस्कृति ने 'स्वदारसंतोषित्व व्रत' को ब्रह्मचर्य का दर्जा दिया है। आज ब्रह्मचर्य के नाम पर उन्मुक्त यौन-मेघ का जो नग्नताण्डव दृष्टिगत होता है, उसका संयमन 'स्वदार-सन्तोषित्व-व्रत' से सहज ही सम्भव है। एकमात्र अपनी पत्नी में ही संतोष के व्रत का पालन किया जाय, तो कामोष्मा से प्रतप्त आधुनिक समाज मे सयम के स्वर्गिक सुख की अवतारणा हो जाय।

श्रमण-सस्कृति अपने उदात्त दृष्टिकोण के कारण ही व्यष्टिगत धारणा की अपेक्षा समष्टिगत धारणा के प्रति आग्रहशील है। वह 'भूमा वे सुखं नाल्पे सुखमस्ति' के सिद्धान्त का समर्थन करती है। वह अना (तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं) पर आस्था रखती है, बाहरी चाकचिक्य को नकार देती है। वह सिद्धान्तो के भटकाव की स्थिति नही उत्पन्न करती। वह तो जीवन को सन्त्रास, कुण्ठा, अनास्था, विसगति आदि दुर्भावनाओं के घात प्रतिघातो से बचने को प्रेरित करती है, ताकि मानव अपनी मानवता की चरम परिणति के सुमेरु पर विराजमान हो सके, सिद्धशिला पर आसीन होकर पल्योपम भूमि को आयत्त कर सके।

आज का मानव नितान्त परिग्रही हो गया है। उसने अपने इर्द-गिर्द अनेक आडम्बर चिपका रखे है। अज्ञानता और दयाहीनता के कारण वह अनपेक्षित आभिजात्य-भावना मे पडकर मानवता की गरिमा से परिच्युत हो गया है। वह बाह्य जगत् मे अकर्म को कर्म और कर्म को अकर्म मान बैठा है। भौतिकता से अतिपरिचय के कारण वह आध्यात्मिकता की अवज्ञा कर रहा है। उसका कोई भी कथन न तो सुचिन्तित होता है, न ही वह कोई सुविचारित कार्य कर पाता है। कुल मिलाकर, आधुनिक मानव-समाज मे आत्मप्रदर्शन की मिथ्या गतानुगतिकता, की ऐसी लहर छा गई है कि वह सिवाय दूसरे का छीनने के अलावा और कुछ सोच ही नही सकता। श्रमण-सस्कृति ने इसीलिए, अस्तेय-भावना को सामाजिक जीवन मे प्रतिष्ठा दी है।

ईशोपनिषद् की 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' जैसी सामाजिक भावना को उद्बुद्ध करने वाली चेतावनी को आज के मानव ने नजरन्दाज कर दिया है, इसीलिए उसमें चौर्यवृत्ति आ गई है: आत्मधन की अपेक्षा परधन के प्रति तृष्णा से निरन्तर आकुल-व्याकुल हो रहा है। फलतः, उसके सयम का चाबुक बेकार हो गया है और इन्द्रियों के घोड़े बेलगाम हो गये है। उसके जैसा कामगृद्ध व्यक्ति काम से ही काम को शान्त करना चाहता है, और इसके लिए वह चौर्यवृत्ति से ही अपने सुख-सन्तोष की सामग्री जुटाने मे प्रबल पुरुषार्थ मान रहा है और हिंसा तथा मिथ्यात्व के प्रति एकान्त आग्रहशील हो उठा है।

सारस्वत जगत् मे भी आज अजीब छीना-झपटी चल रही है। गीता की 'स्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावहः'

की चेतावनी भी उसे याद नहीं रह गई है। फलतः उसकी जिन्दगी की गाड़ी समतल सड़क को छोड़ ऊबड़-खाबड़ रास्ते में दौड़ पड़ी है। कृत्रिम पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में पड़कर उसने अपनी सहज पौरस्त्य संस्कृति की उपेक्षा कर दी है। यहां तक कि वह अपनी भाषा और साहित्य को भी वह मूल्यहीन मानने लगा है। उसके मूल्यांकन की तुला ही अभारतीय हो गई है।

यही कारण है कि आधुनिक मानव विभिन्न मतवादों और साम्प्रदायिक रूढ़ियों की वात्या मे विलुण्ठित हो रहा है। उसका अपना ज्ञानबोध अहंकार के अंधेरे में डूब गया है। ऐसी स्थिति में श्रमण-संस्कृति के पचयाम धर्म की प्रोज्ज्वल प्रभा उसके तिमिरावृत हृदय को भास्वर बना सकती है। उसके दिग्भ्रष्ट जीवन-पोत के लिए अनेकान्त जयपताका दिशासूचक यन्त्र का काम कर सकती है; क्योंकि, श्रमण-संस्कृति के पचयाम धर्म में मानव की चेतना को अनावश्यक आग्रह से अलग कर अपेक्षित अनाग्रह के ज्योतिपथ की ओर ले चलने की अपरिमित शक्ति है। कहना न होगा कि श्रमण-संस्कृति मे जीवन के विधायक अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष—जैसे अवर्णवाद, धार्मिक आचरण के नाम पर हिंसा एव परिग्रहमूलक आडम्बरों का प्रतिक्षेप, सैद्धान्तिक मतों का समन्वय, सामाजिक जीवन मे समतावाद की स्थापना के द्वारा स्त्री-पुरुषों के लिए समान प्रगति की योजना, अधिक धन का प्रत्याख्यान और प्राप्त धन का स्वामित्व-हीन समान वितरण, पूंजीवाद का विरोध, ऊंच-नीच और स्पृश्यास्पृश्य जैसी समाजोत्थान-विरोधी भावना का निराकरण आदि—प्रतिनिहित है, जिनसे उसके उदात्त दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष परिज्ञान प्राप्त होता है।

श्रमण-संस्कृति में श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस के लिए किसी निर्धारित वेश-विशेष की आवश्यकता नहीं। भगवान् महावीर ने इनकी परिभाषा उपस्थित करते हुए निर्देश किया है :

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण न तावसो।
समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।
णाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तापसो ॥

निस्सन्देह, केवल सिर मुड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, न ही ओंकार के जप से ब्राह्मण। जंगल में रहने से ही मुनि नहीं होता और न कुश तथा चीवर धारण करने से तपस्वी। वस्तुतः, जो समता से सम्पन्न है, वही श्रमण है, ब्रह्मचर्य का उपासक ही ब्राह्मण है, ज्ञानी ही मुनि हैं और तप करने वाला ही तपस्वी।

इस प्रकार, श्रमण-संस्कृति ने प्रत्येक व्यक्ति को उत्थान के मार्ग का अधिकारी घोषित किया है। अपनी साधना से सर्वसामान्य व्यक्ति भी पारमैश्वर्य की सिद्धि सुलभ कर सकता है। श्रमण-संस्कृति ने ईश्वर के कर्तृत्व को नकारते हुए मानव के अजेय पुरुषार्थ के प्रति अडिग आस्था अभिव्यक्त की है। आत्मशक्ति के प्रति अविश्वास हो जाने के कारण ही वह किसी पारमेश्वरी शक्ति की कल्पना कर उसके प्रति समर्पित हो जाता है। परवर्ती-कालीन भक्त कवि चण्डीदास की प्रसिद्ध काव्य-पंक्ति—'सबार ऊपरे मानुस सत्य' मे श्रमण संस्कृति का ही उदात्त दृष्टिकोण समाहित है।

श्रमण-संस्कृति के उदात्त विचारप्रधान दार्शनिक चिंतन ने राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी को भी अनुकूलित किया था और गान्धी जी के प्रसिद्ध ग्यारह व्रतों मे प्रारम्भ के पांच व्रत भगवान् महावीर के ही पंचयाम धर्म से आकलित हैं। कहना यह चाहिए कि महात्मा गान्धी का जीवन-दर्शन श्रमण-संस्कृति के जीवन-दर्शन का ही परवर्ती व्यापक विस्तार है, जिसकी उदात्त विचारधारा परम्परानुक्रम से विकसित होकर आज की सामाजिक एव आर्थिक अभ्युत्थानमूलक राष्ट्रीय योजना बिंश-सूत्री कार्यक्रम से आ जुड़ी है। इसलिए, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि राष्ट्रीय अभियान के प्रत्येक पड़ाव पर या सामाजिक जीवन के हर मोड़ पर प्रगति और उत्कर्ष का मन्त्र फूकने वाली श्रमण-संस्कृति को किसी विशिष्ट देश, काल, आयु, नाम, गोत्र आदि की सीमा में रखकर देखने की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व के सन्दर्भ मे मगलकारी उदात्त दृष्टिकोण का ही पर्याय समझना समीचीन है।

□□

सम्पादक, 'परिषद्-पत्रिका', बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्,
पटना-८००००४

मूर्ति-पूजा की प्रतीकात्मकता

☐ डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

प्रतीक की स्वीकृति

मानव-संस्कृति मे प्रतीक की स्वीकृति उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव की ज्ञान-चेतना। प्रत्यक्ष वस्तु को शब्दो द्वारा प्रकट करने की प्रथम चेष्टा ने ही प्रतीक की मान्यता का सूत्रपात किया।

प्रतीक विकास

समय के साथ प्रतीक का भी विस्तार होता गया और वह अब शब्दो तक ही सीमित न रह गया। शब्दो से अधिक सरल और सक्षिप्त प्रतीक दूसरा नही, परन्तु कभी-कभी अस्पष्ट या अदृश्य वस्तुओ का सर्वसाधारण को बोध कराने में शब्द असफल भी हो जाते है। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु को अभीष्ट वस्तु का प्रतीक माना जाने लगा। एक वस्तु के प्रतीक के रूप में दूसरी वस्तु की ही स्वीकृति अपने-आप मे एक बहुत बडी घटना थी। प्रतीकात्मक वस्तु ही आगे चलकर दो रूपों मे परिणत हुई। उसका प्रथम रूप था—अतदाकार, जिसे हम यथार्थ शब्दो में "अनगढ़" कहे तो अधिक अच्छा होगा। मिट्टी के ढेले या पत्थर के टुकडे से पर्वत का और जल की क्षुद्र धारा से विशाल नदी का बोध कराना भी प्रतीकों मे स्थान पाता है। यही द्वितीय, तदाकार प्रतीक की मान्यता का सूत्रपात है।

प्रतीक के विभिन्न रूप

अब हमारे समक्ष प्रतीक के तीन रूप स्पष्ट हैं :

(१) शब्दात्मक, (२) अतदाकार और (३) तदाकार। वर्तमान विचारको और दार्शनिकों के विचार से अब कदाचित् शब्दात्मक प्रतीक को प्रतीक कोटि मे न रखा जाए, पर शेष दो प्रतीक तो अब भी मान्य हैं।

मानव की विवेचनात्मक या उपयोगी-अनुपयोगी वस्तुओं में मतभेद करने की योग्यता के विकास के साथ प्रतीक-मान्यता ने भी विभिन्न रूप धारण किये। उपयोगी वस्तु का प्रतीक शुभ माना जाने लगा और अनुपयोगी वस्तु का प्रतीक अशुभ। यही से प्रतीको के प्रति सम्मान या असम्मान का भाव जागृत होता है। उपयोगी या अभीष्ट वस्तु के प्रतीक की कल्पना अधिक सुन्दर रूप मे की गयी। प्रारम्भ मे उसकी तदाकारता या अतदाकारता पर कम ध्यान दिया गया, परन्तु मानव मे ज्यों-ज्यों कला-बोध विकसित हुआ, त्यो त्यो प्रतीक की तदाकारता को महत्त्व मिलता गया। तदाकार प्रतीक को महत्त्व इसलिए भी मिला कि वह मानव-भावना को अतदाकार प्रतीक की अपेक्षा अधिक शीघ्रता एव सुन्दरता से जागृत कर लेता है।

मूर्ति-कल्पना

प्रतीक के क्षेत्र मे मानव की सुन्दरतम उपलब्धि थी—मूर्ति की कल्पना। उसने प्रारम्भ मे जब अपने सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति को मूर्ति के रूप मे प्रस्तुत कर लिया तब वह अपनी अपूर्व सफलता पर झूम उठा होगा। मूर्ति-रूप प्रतीक की लोकप्रियता निरन्तर बढी और अब भी बढ रही है। यह प्रतीक भी समय-क्रम से शुभ एव अशुभ के रूप मे विभक्त हो चला। अशुभ वस्तु को मूर्तरूप प्रतीक देने मे मानव ने अपना अनुमान अनुभव किया और यही कारण है कि—अनुपयोगी या दुरुपयोगी वस्तुओ के प्रतीक या तो मूर्तरूप नही होते या उनका मूर्तरूप उतना सुघड़ तथा कलापूर्ण नही होता, जितना कि उपयोगी वस्तुओ का।

मूर्ति-पूजा का जन्म

मूर्तरूप प्रतीक चूकि उपयोगी या अभीष्ट वस्तु का ही बनाया जाने लगा, अतः उसकी मान्यता भी बढ चली। यह मान्यता विभिन्न रूपो मे प्रकट हुई। मूर्ति को सुरक्षित तथा सुन्दर स्थान मे रखा गया। अभीष्ट प्रेरणा या शक्ति-सचार के लिए उसके सामयिक या दैनिक दर्शन का विधान किया जाने लगा। यही से "मूर्ति-पूजा" की प्रथा को जन्म मिला।

इस दृष्टि से, इतने से उद्देश्य-से ही यदि मूर्ति-पूजा स्वीकृति मान लें तो कहना होगा कि आज संसार में कदाचित् ऐसा कोई व्यक्ति नही, जो मूर्ति-पूजक न हो। परन्तु मानव ने जब जब से भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से अपनी सीमायें सकीर्ण की या ऐसी सीमाओं का अनुभव किया, तबसे उसकी मूर्ति-पूजा ने भी देश, काल तथा परिस्थिति के अनुकूल रूप-रूपान्तर धारण किए। कही तदाकार मूर्ति-रूप प्रतीक की पूजा प्रारम्भ हुई तो कही अतदाकार मूर्ति-रूप की।

जहा तक भारत का प्रश्न है, यहा तदाकार मूर्तरूप प्रतीक को ही अधिकतर पूजा प्राप्त हुई। अब से पचास शत ब्दी पूर्व यहा मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। उससे पच्चीस शताब्दी पश्चात् यहा उसकी जड़े इतनी गहरी जम चुकी थी कि महात्मा बुद्ध जैसे अद्भुत प्रभावशाली व्यक्ति के आदेश का उल्लंघन करके भी मनुष्य ने मूर्ति-पूजा चालू रखी।

पूजा पूज्य पुरुष की की जाती है। यदि पूज्य पुरुष विद्यमान न हो तो उसकी मूर्ति बनाकर उसके माध्यम से पूज्य पुरुष की पूजा की जाती है। तदाकार स्थापना का अभिप्राय भी ऐसा ही है।

मूर्तियों के पात्र

मूर्ति के पात्रो के रूप मे भारत मे—शिव, विष्णु, ऋषभ—पार्श्वनाथ, महावीर और बुद्ध जैसी महान् विभूतिया स्वीकृत की जाने लगी। किन्तु कदाचित् जनसंख्या के विस्तार एवं रुचि-वैभिन्य के फलस्वरूप मूर्ति के पात्रो मे वृद्धि हो चली। प्राकृतिक शक्तियो को, जिन्हे अब तक शब्दात्मक या अतदाकार प्रतीक ही प्राप्त थे, अब मूर्तरूप प्रतीक प्राप्त होने लगे, यद्यपि ऐसी मूर्तियो को वह मान्यता कभी नही मिली जो पूर्व-स्वीकृत शिव आदि की मूर्तियों को प्राप्त हुई और फिर इन पात्रो की संख्या अधिक बढ़ी कि उनके प्रति पूजा की भावना अपेक्षाकृत निर्बल हो गयी। फलस्वरूप उन्हे वह अलंकरण और स्थान भी प्राप्त न हो सका जो पूर्व-स्वीकृत मूर्तियो को हुआ। यही कारण है कि अन्य मूर्तियो को पूर्व-स्वीकृत मूर्तियो के परिचायक या पूरक के रूप मे प्रस्तुत किया गया। जब एक मूर्ति के लिए मन्दिर का निर्माण किया गया तब अन्य मूर्तियों को या तो मंदिर के सज्जागत तत्वों मे स्थान दिया गया या मुख्य मूर्ति के समीप कही।

जैन धर्म और मूर्ति-पूजा

जैन मूर्तियो के निर्माण और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा के विवरण प्राचीनकाल से ही प्राप्त होते है। जैन धर्म में दो प्रकार की मूर्तिया स्वीकार की गयी है—१. कृत्रिम तथा २. अकृत्रिम। जैन साहित्य में कृत्रिम मूर्तियों की अपेक्षा अकृत्रिम मूर्तियों की संख्या असंख्य गुणी वर्णित है। जैसे कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से मूर्तियां दो प्रकार की हुई, उसी प्रकार चैत्यालय भी दो प्रकार के होते है—१. कृत्रिम चैत्यालय एवं २. अकृत्रिम चैत्यालय।

ये चैत्यालय नन्दीश्वर द्वीप, सुमेरु, कुलाचल, वैताढ्य पर्वत, शाल्मली वृक्ष, जम्बूवृक्ष, वक्षारगिरि, चैत्यवृक्ष, रतिकरगिरि, रुचकगिरि, कुंडलगिरि, इष्वाकारगिरि, अंजनगिरि, मानुषोत्तर पर्वत, दधिमुख पर्वत, ज्योतिर्लोक, व्यन्तरलोक, स्वर्गलोक तथा भवनवासियो के पाताल लोक मे प्राप्त होते है। इन अकृत्रिम चैत्यालयों मे अकृत्रिम मूर्तियां विराजमान हैं। युग के प्रारम्भ मे सोधर्मेन्द्र ने अयोध्या में पांच मन्दिर,बनाए तथा उनमें अकृत्रिम मूर्तियां स्थापित कीं।

सर्वप्रथम भरत चक्रवर्ती ने अयोध्या एवं कैलाश मे मंदिरों का निर्माण कराकर स्वर्ण और रत्नों की कृत्रिम मूर्तियां विराजमान कराई तथा जिस स्थान पर बाहुबली ने एक वर्ष तक अचल प्रतिमायोग धारण किया था, उस स्थान पर उन्ही के आकार (५२५ धनुष) की मूर्ति बनवायी। ग्रन्थों मे वर्णन प्राप्त होता है कि—द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ के समय में चक्रवर्ती सगर सुपुत्रों ने एवं २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ मे मुनिराज वाली एवं प्रतिनारायण रावण ने कैलाश पर्वत पर उन जिनालयो के और श्री रामचन्द्र तथा सीता ने बाहुबली स्वामी की उक्त मूर्ति के दर्शन-पूजन किए थे।

जैन धर्म में प्रतीक

प्रतीक का अस्तित्व जैन-धर्म मे आदिकाल से रहा है। शास्त्रीय विधानों के अनुसार कुछ मूर्तियां और मंदिर (जिनका उल्लेख ऊपर के अनुच्छेद में किया गया है) तो ऐसे है जो केवल प्रकृति की देन हैं[1], उनका न आदि है और न अन्त। यह दूसरी बात है कि वर्तमान मनुष्य उन तक पहुंच नहीं सका।

---

१. कृत्याकृत्रिम चारु चैत्यानिलयान् नित्यं त्रिलोकीगतान्। वन्दे भावनव्यंतरान् द्युतिवरान् स्वर्गामरावासगान्॥

मनुष्य द्वारा निर्मित प्राचीनतम जैन मूर्ति कौन है, यह विचारणीय है। पटना संग्रहालय में लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन एक जैन मूर्ति प्रदर्शित है[1]। लोहानीपुर (पटना) में एक जैन मन्दिर की नींव भी मिली है। हड़प्पा में भी एक नग्न मूर्ति प्राप्त हुई है[2]। इन दोनों मूर्तियों में परम्परा और लक्षणों की दृष्टि से इतनी अधिक समानता है कि हड़प्पा की मूर्ति को जैन कहने में संकोच नहीं होता। स्व० प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) ने सिन्धु घाटी में ही प्राप्त एक मुद्रा (क्रमांक ४४९) पर "जिनेश्व" पढ़ा था[3]। इन सबके आधार पर जैन मूर्ति की प्राचीनता अब से लगभग ५००० वर्ष पूर्व मानी जाएगी। तब से निरन्तर अनेक प्रकारीय उपादानों से मूर्तियों का निर्माण होता आया है। इस क्रम जीवन्त स्वामी की मूर्ति तथा कलिंगाधिपति खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में उल्लिखित जिन प्रतिमा के संदर्भ तथा मथुरा, देवगढ़, पभोसा आदि में उपलब्ध प्राचीन जैन मूर्तियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जैन धर्म में प्राचीनकाल से तदाकार प्रतीकों के अतिरिक्त अतदाकार प्रतीकों की मान्यता भी रही है। अतदाकार प्रतीकों में मुख्य और परम्परागत है—धर्मचक्र, स्तूप, त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष, पूर्णघट, श्रीवत्स, शराब सम्पुट, पुष्पपात्र, पुष्प पटलक, स्वस्तिक आदि। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतीक 'आयागपट्ट, भी रहा है। यह एक वर्गाकार या आयताकार शिलापट्ट होता है जिस पर कुछ अन्य प्रतीक उत्कीर्ण होते है। कुछ पर मध्य में तीर्थंकर की लघुमूर्ति अंकित होती है। कुछ अभिलिखित आयागपट्टों से विदित होता है कि वे पूजा के उद्देश्य से स्थापित किए जाते थे। मथुरा तथा कौशाम्बी से अनेक सुन्दर शक-कुषाणकालीन आयागपट्ट प्राप्त हुए हैं।

तीर्थंकरों के लाञ्छन भी प्रतीक कहे जा सकते हैं। पहचान के लिए तीर्थंकर का नाम या पंचकल्याणकों में से किसी एक या अधिक को मूर्ति के साथ उत्कीर्ण किया जाता था। परवर्ती काल में लाञ्छनों की व्यवस्था हुई और उन्हें मूर्तियों के पादपीठ पर उत्कीर्ण किया जाने लगा।

जैन-धर्म में समवशरण, सहस्रकूट, सिद्धचक्र, अष्ट-मंगल, अष्टप्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, चरणपादुका, नवनिधि, नवग्रह आदि भी प्रतीक रूप में स्वीकृत होकर पूजित हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि—पूजा पूज्य पुरुष की होती है। पूज्य पुरुष के समक्ष न होने पर प्रतीक रूप में उसकी मूर्ति के माध्यम से उसके गुणों का स्मरण कर अपने विकास-उत्थान और कल्याण का मार्ग सुनिश्चित किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सांसारिक कार्य कलापों में उलझे प्राणी मूर्ति को प्रतीक रूप में ही मानते और पूजते हैं। इस उपासना का तात्पर्य यही है कि सर्वसाधारण प्राणी ऐसे महापुरुषों के दर्शन-पूजन से उनके चरण-चिह्नों पर चलने तथा उनकी शिक्षाओं को आत्मसात् करने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें, जिन्होंने स्वयं अपने पुरुषार्थ से "परमात्मा पद" पाया है। क्योंकि साधना के पश्चात् वह स्वयं अनुभव करने लगेगा कि—

"य परमात्मा स एवाहं, योऽहं सः परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

जो परमात्मा है वही मैं हूं, जो मैं हूं, वही परमात्मा है। मेरे और परमात्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। अतः मेरे द्वारा मैं स्वयं ही उपासना के योग्य हूं, अन्य कोई नहीं, वास्तविक स्थिति ऐसी ही है।

परन्तु यह मार्ग उसी साधक के लिए उपयुक्त है जो आत्मानुभव के अमृत-मार्ग में पूर्णतः प्रविष्ट हो गया है। सांसारिक विषय-वासना में व्यस्त मानव को प्राथमिक विकास का मार्ग प्रतीक रूप में प्रयुक्त मूर्तियों की पूजा-उपासना से ही प्राप्त होता है। □□

प्राध्यापक, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
दमोह (म० प्र०)

१. देखिये, (अ) विंसेंट ए० स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलोन, पृ० २० तथा फलक १०, आकृति-स। (ब) आर० सी० मजूमदार : दी एज आफ इम्पीरियल यूनीटी, पृ० ४२६।

२. देखिए, बी० ए० स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलोन, फलक दो, आकृति स तथा ड।

३. और भी देखिए, (अ) पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर : जैन शासन, पृ० ३१३, (ब) मुनि विद्यानन्द : श्रमण संस्कृति का इतिहास : सन्मति सन्देश (अगस्त १९६९), पृ० १३।

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। १ ५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३ ००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

अध्यात्म रहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १ ००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३२ : किरण ३-४ जुलाई-सितम्बर १९७९

सम्पादन-मण्डल
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री गोकुलप्रसाद जैन

□

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल. बी.,
साहित्यरत्न

□

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस अंक का मूल्य :
१ रुपये ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	महावीर स्तवन	४१
२.	श्रमण परम्परा—सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री, वाराणसी	४२
३.	ध्यान विषयक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथ ध्यान शतक और उसके विविध संस्करण —श्री अगरचन्द्र नाहटा, बीकानेर	४६
४.	जैन वाङ्मय का संगीत पक्ष —श्री प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस पंडित'	४७
५	प्राकृत का बृहद्द्रव्य-संग्रह और उसकी महत्ता — पं० नाथूराम जैन 'डोंगरीय', इन्दौर	४९
६.	महावीर सवत् : भारत का सर्वप्राचीन संवत्	५७
७.	भगवान महावीर के विचार तथा कृतित्व : समस्त विश्व के लिए अनुपम धरोहर —डा० रामकुमार वर्मा	५७ / ५८
८.	जैनाचार्य और आयुर्वेद—श्री राज कुमार जैन	५९
९.	बुद्ध और महावीर—डा० देव सहाय त्रिवेद	६२
१०.	सांख्य-दर्शन मे सृष्टि-निर्माण : तुलनात्मक विवेचन —सुश्री अंजु सुराना, आगरा	६५
११.	जैन धर्म की प्रासंगिकता—डा० निजामुद्दीन	६७
१२.	जिनागम में प्रतिपादित उपचरित कथन का रहस्य—श्री महाचन्द्र जैन, इम्फाल (आसाम)	७०

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर-सेवा-मन्दिर के मनस्वी महासचिव

श्री महेन्द्र सेन जैनी का देहावसान

साहित्य-जगत् एवं समाज की अपूरणीय क्षति

अत्यन्त खेद है कि वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली के उदारचेता महासचिव श्री महेन्द्र सेन जैनी का दीर्घकालीन रुग्णता के पश्चात् ४ सितम्बर, १९७९ को स्वर्गवास हो गया। वे अत्यन्त धर्मात्मा, साहित्य-प्रेमी, समाजसेवी एवं अध्यवसायी थे। उनके निधन से साहित्य-जगत् और समाज की जो भारी क्षति हुई है, उसकी प्रतिपूर्ति दुर्लभ है।

श्री महेन्द्र सेन जैनी

श्री जैनी का जन्म ३० जनवरी, १९२० को लखनऊ में हुआ था। उच्च शिक्षा संप्राप्ति के पश्चात् आपने सक्रिय जीवन में प्रवेश किया तथा पूर्ण लगन और अनवरत अध्यवसायपूर्वक आपने विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में पूर्ण सफलता प्राप्त की एवं ऊंचे-से-ऊंचे पदों को सुशोभित किया। आप सरिता एवं कारवां नामक पत्रिकाओं में सेक्रेटरी रहे और तत्पश्चात् भारत सरकार के "सैनिक समाचार" नामक पत्र में आपने विज्ञापन प्रबन्धक के पद पर श्लाघनीय कार्य किया। तदनन्तर आपने अनेक वर्ष पर्यन्त भारत सरकार के प्रकाशन विभाग (सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय) में सहायक व्यापार प्रबन्धक और तदुपरान्त व्यापार प्रबन्धक जैसे गरिमापूर्ण पदों पर कार्य किया। इसके बाद आपने विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मन्त्रालय के विधि-साहित्य-प्रकाशन में प्रकाशन एवं विक्रय प्रबन्धक के महत्वपूर्ण पद पर कार्य किया और वहीं से १ फरवरी, १९७८ को आप सेवा-निवृत्त हुए।

सामाजिक क्षेत्र में भी श्री जैनी अनेक महत्वपूर्ण संस्थाओं से सम्बद्ध रहकर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आप जैन सभा, दरियागंज, दिल्ली के अनेक मन्त्र पर्यन्त मन्त्री रहे तथा आपने लगभग १० वर्ष पर्यन्त जैन हायर सेकण्डरी स्कूल, दरियागंज, दिल्ली के मन्त्री एवं प्रबन्धक के उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर रहकर सराहनीय कार्य किया। तदुपरान्त आप जैन समाज की एकमात्र शोधपीठ वीर-सेवा-मन्दिर के अनेक सत्र पर्यन्त महासचिव रहे और जीवन के अन्तिम क्षण तक भी आप इस महत्वशाली कार्य का निर्वाह करते रहे।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में भी आपने अनेक सराहा कार्य किए। आपने विविध सांस्कृतिक, सामाजिक, सैद्धान्तिक आदि विषयों पर महत्वपूर्ण लेख लिखे जो समय-समय पर विभिन्न पत्र-लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। आपने अनेक पुस्तकों का प्रणयन एवं सम्पादन भी किया जो आपके ज्ञान-गाम्भीर्य और विश्लेषक बुद्धि के परिचायक हैं। आपने भारत सरकार द्वारा प्रकाशित "हिन्दी विधि समाचार" नामक पत्र के अनेक वर्ष तक सम्पादक रह कर सरकारी क्षेत्र में हिन्दी के प्रचार और प्रसार में प्रशंसनीय योगदान किया।

श्री जैन के विविध सेवाकार्यों का पावन पुण्य करते हुए शोकाकुल वीर-सेवा-मन्दिर एवं अनेकान्त परिवार भगवान जिनेन्द्र से प्रार्थना करता है कि दिवंगत आत्मा को सुगति तथा शान्ति प्राप्त हो। और उनके शोकार्त परिवार को यह दारुण दुख सहन करने का बल और धैर्य प्राप्त हो।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३२ किरण ३ और ४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण सवत् २५०५, वि० स० २०३५ | जुलाई-दिसम्बर १९७९

महावीर स्तवन

णमो जिणाणं वड्ढमाणं. जिय भयाणं ।
महावीरा मगलम्, महावीरा लोगुत्तमा, महावीरे सरणं गच्छामि ।
णिस्संसयकरो महावीरो जिणुत्तमो ।
रागदोस-भयादोदो धम्म-तीत्थस्स कारओ ॥
इक्कोवि णमुक्कारो जिणवर वसहस्स वध्धमाणस्स ।
संसार सागराओ तारेइ नरं वा नारि वा ॥
सव्वण्णु सोमदंसण अपुणभव भवियजण-मणाणन्द ।
जय चिन्तामणि जगयगुरू जय जय जिण वीर अकलक ॥

—अज्ञात

आतिथ्यं रूपमासरं महावीरस्य नग्नहु । रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रोः सुरासुता ॥

—यजुर्वेद, अ. १९, मं. १४

निगठो आवुसो नातपुत्तो सव्वज्ञु सव्वदरस्सी । अपरिसेसे णाण दंसंण परिजानाति ॥

—मज्झिमनिकाय, भा-१

भयादिक समस्त विकार भावो के विजेता वर्द्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार हो; भगवान महावीर मगल स्वरूपी है, लोकोत्तम है. उन्ही की शरण मुझे प्राप्त हो ।

संशयो के निर्मूल करने मे वीर, जिनोत्तम भगवान महावीर राग द्वेष भय आदि विकारो से रहित है—अतीत है; वे धर्मतीर्थ के कर्ता या संस्थापक है ।

जिनेन्द्र भगवान ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर) अथवा वर्द्धमान महावीर (अंतिम तीर्थंकर) को एक बार भी भावपूर्वक नमस्कार करने से नर हो या नारी, ससार सागर से तिर जाते है—पार हो जाते है। सर्वज्ञ, सोमदर्शन, अपुनर्भव, भव्य जन-मनान्द, चिन्तामणि, जगद्गुरु, अकलक वीर जिनेन्द्र की जय हो, जय हो, जय हो !

अतिथि स्वरूप पूज्य मासोपवासी नग्न (दिगम्बर) महावीर की उपासना करो, जिससे (सशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रूप) तीन अज्ञान, अथवा (धन-शरीर-विद्या रूप) मदत्रय की उत्पत्ति नही होती ।

आयुष्मान निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (भगवान महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है । अपने अपरिशेष (अनन्त) ज्ञानदर्शन द्वारा वह सब कुछ जानते-देखते है ।

□□□

श्रमण परम्परा

☐ सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री, वाराणसी

भगवान महावीर का जन्म इसी बिहार प्रदेश में हुआ था। इसी प्रदेश में कठोर तपस्या के द्वारा उन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया था। इसी प्रदेश के विपुलाचल पर उनकी प्रथम धर्म-देशना हुई थी और जिस लोक भाषा मे हुई थी उसका नाम भी इसी प्रदेश के नाम पर अर्धमागधी है और इसी प्रदेश से उन्होंने निर्वाण लाभ किया। इस तरह यह प्रदेश भगवान महावीर के जीवन के साथ इतना सुसम्बद्ध है कि न तो इस प्रदेश के बिना भगवान महावीर को देखा जा सकता है और न महावीर के बिना इस प्रदेश की ही गरिमा का अनुमान किया जा सकता है।

तीर्थंकर तो अनेकों हुए किन्तु जिनके पांचो कल्याणक अपने जन्म प्रदेश मे ही हुए ऐसे एकाकी तीर्थंकर महावीर ही है। सर्वस्व त्यागकर देने पर भी मानो वह अपनी इस जन्मभूमि का मोह नही त्याग सके थे। मातृभूमि और मातृभाषा सचमुच मे माता से भी बढ़ कर है।

मनीषियों का विचार है कि अङ्ग, मगध, काशी, कोसल और विदेह मे वैदिक सभ्यता का प्रवेश बहुत काल पश्चात् हुआ था। शत ब्रा० (१-४-१) मे लिखा है कि 'सरस्वती नदी से अग्नि ने पूर्व की ओर प्रयाण किया। उसके पीछे विदेघ माथव और गोतम राहुगण थे। सबको जलाती और मार्ग की नदियो को सुखाती हुई वह अग्नि सदानीरा के तट पर पहुची। उसे वह नही जला सकी: तब माधव ने अग्नि से पूछा 'मैं कहा रहू' तो उसने उत्तर दिया कि "तेरा निवास इस नदी के पूरब मे हो"। अब तक भी यह नदी कोसलों और विदेहों की सीमा है।'

इसे वैदिक आर्यों के सरस्वती नदी तट से सदानीरा के तट तक बढने के रूप मे लिया जाता है। बहुत समय तक यह नदी आर्यों के संसार की सीमा मानी जाती थी। इसके आगे यथेच्छ उनका आना जाना था?

बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग माना जाता है। इसी से विद्वान उसका रचना काल आठवी शताब्दी ईस्वी पूर्व मानते है। यही समय भगवान महावीर के पूर्वज तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का है जो काशी नगरी मे जन्मे थे। उनके जीवन की घटना है कि एक दिन वह गंगा के तट पर गये। वहा कुछ तापस पञ्चाग्नि तप करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-१२) मे ही हम तापसो और श्रमणो का निर्देश मात्र पाते है। याज्ञवल्क्य जनक से आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहते है कि इस सुषुप्तावस्था मे श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाता है।

शतपथ ब्राह्मण मे ही तप से विश्व की उत्पत्ति बतलाई है। प्रतिदिन अग्निहोत्र करना एक प्रधान कर्म था। इसकी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार बतलाई है— "प्रारम्भ में प्रजापति एकाकी था। उसको अनेक होने की इच्छा हुई। उसने तपस्या की। उसके मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। चूंकि सब देवताओं मे अग्नि प्रथम उत्पन्न हुई इसी से उसे अग्नि कहते है। उसका यथार्थ नाम अग्रि है। मुख से उत्पन्न होने के कारण अग्नि का भक्षक होना स्वाभाविक था। किन्तु उस समय पृथ्वी पर कुछ भी नही था। अत: प्रजापति को चिन्ता हुई। तब उसने अपनी वाणी की आहुति देकर अपनी रक्षा की। जब वह मरा तो उसे अग्नि पर रखा गया। किंतु अग्नि ने उसके शरीर को ही जलाया। अत: प्रत्येक व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए।' यदि नया जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो अग्नि होत्र करो।

ऋग्वेद का पहला मन्त्र है 'अग्निमीडे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। अग्नि देवो के पुरोहित है। पुरोहित का अर्थ है आगे रखा हुआ। अग्नि में आहुति देकर ही देवों तुष्ट किया जा सकता है।

ब्राह्मण ग्रंथो के काल में यज्ञों का प्राधान्य रहा। उनके पश्चात् आरण्यको का समय आता है। देवता विशेष

के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही यज्ञ है यह आरण्यकों को मान्य नही है। ब्राह्मण ग्रंथो का सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग था और उसकी प्राप्ति का मार्ग था यज्ञ। किन्तु आरण्यको मैं यह बात नही है। तैत्तिरीय आरण्यक में ही प्रथम बार श्रमण शब्द तपस्वी के अर्थ मे आया है।

ऋग्वेद के सकलयिता ऋषि अरण्यवासी ऋषियो से भिन्न थे। वे अरण्य मे नही रहते थे। वैदिक साहित्य मे अरण्य शब्द के जो अर्थ पाये जाते है उनमे इस पर प्रकाश पडता है कि ऋग्वेद मे गांव के बाहर की बिना जुती जमीन के अर्थ मे अरण्य शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण मे (५-३-३५) लिखा है 'अरण्य मे चोर बसते है।' बृहदा 'उप' (५-११) में लिखा है "मुर्दे को अरण्य मे ले जाते है", किन्तु छा० उप.(८।५।३) मे लिखा है कि अरण्य में तपस्वी जन निवास करते है।

विद्वानो का मत है कि जब वैदिक आर्य पूरब की ओर बढे तो यज्ञ पीछे रह गये और यज्ञ का स्थान तप ने ले लिया। किन्तु तप को स्वीकार करने पर भी आर्य देवताओ के पुरोहित अग्नि को नही छोड़ सके, अतः पञ्चाग्नि तप प्रवर्तित हुआ। भगवान पार्श्वनाथ को गंगा के तट पर पञ्चाग्नि तप तपने वाले ऐसे ही तपस्वी मिले थे।

चार आश्रमो की व्यवस्था भी चिन्त्य है। ब्राह्मण को ब्रह्मचारी और गृहस्थ के रूप में जीवन बिताने के बाद सन्यासी हो जाना चाहिए यह नियम है वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। पौराणिक परम्परा के अनुसार राज्य त्याग कर वन में चले जाने की प्रथा क्षत्रियो मे प्रचलित थी।

कवि-कुलगुरु कालिदास ने रघुवश मे रघुओ का वर्णन करते हुए कहा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनु त्यजाम्॥

अर्थात् शैशवकाल में विद्याभ्यास करते है, यौवन मे विषय-भोग भोगते है, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में रहते है और अन्त में योग के द्वारा शरीर त्याग करते हैं।

गौतम धर्म सूत्र (८/८) में एक प्राचीन आचार्य मत दिया है कि वेदो को तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है। अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रंथो में ब्रह्मचर्याश्रम का विशेषतः उपनयन का विधान है किन्तु चार आश्रमों का उल्लेख छा० उप० में है। बाल्मीकि रामायण में किसी सन्यासी के दर्शन नहीं होते, सर्वत्र वानप्रस्थ मिलते हैं।

लोकमान्य तिलक ने अपने गीता रहस्य में लिखा है-वेद संहिता और ब्राह्मणों में सन्यास को आवश्यक नहीं कहा। उल्टे जैमिनि ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है (देखो वेदान्तसूत्र ३,४,१७,२०) और उनका यह कथन कुछ निराधार भी नही है क्योकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का प्रारम्भ उपनिषदो में ही पहले पहल देखा जाता है। उपनिषत्काल में ही यह मत अमल में आने लगा कि मोक्ष पाने के लिए ज्ञान के पश्चात् वैराग्य से कर्म सन्यास करना चाहिए।' इत्यादि

किन्तु प्राचीन उपनिषदो मे वही पुरानी ध्वनि मिलती है—शतपथ ब्रा० (१३, ४-१-१) में लिखा है—'एतद् वै जरामर्यं सत्रं यद् अग्निहोत्रम्' अर्थात् जब तक जियो अग्नि अग्नि होत्र करो। ईशा-उप में कहा है 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शत समाः' अर्थात् एक मनुष्य को अपने जीवन भर कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। बौधायन और आपस्तम्ब सूत्रो में भी गृहस्थाश्रम को ही मुख्य कहा है। स्मृतियो की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। मनुस्मृति में सन्यास आश्रम का कथन करके भी अन्य आश्रमो की अपेक्षा गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ कहा है।

इसके विपरीत जैन धर्म के अनुसार, श्रमण-धर्म को अपनाये बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नही है। गृहस्थ धर्म मुनि का लघुरूप है और जो मुनि धर्म को पालन करने में असमर्थ होता है वह गृहस्थ धर्म का पालन करता है।

आचार्यकल्प आशाधर ने कहा है—

त्याज्यानजस्रं विषयान् पश्यतोपि जिनाज्ञया।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते॥

जो जिन देव के उपदेशानुसार ससार के विषयों को त्याज्य जानते हुए भी मोहवश छोडने मे असमर्थ है उसे गृहस्थ धर्म का पालन करने की अनुमति दी जाती है।

जैन धर्म के पांच व्रत प्रसिद्ध है : अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अनेकान्त और अपरिग्रह। इनका सर्वदेशपालन श्रमण करते हैं और एक-देश गृहस्थ पालता है। अतः श्रमणों के व्रतों को महाव्रत और गृहस्थो के व्रतो को अणुव्रत कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों ने गृहवास छोड़कर श्रमणधर्म को अङ्गीकार किया था।

श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव का जो चित्रण है वह भी जैन मान्यता का ही समर्थन करता है। उसमे उनकी तपस्या का वर्णन करते हुए कहा है—उस समय केवल शरीर मात्र उनके पास था और वे दिगम्बर वेश मे नग्न विचरण करते थे। मौन मे रहते थे। कोई डराये मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्र-विष्टा फेंकता इन सबकी ओर ध्यान नही देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है ऐसा समझकर अहंकार-ममकार का त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेव के समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया था, आदि।

इसी मे यह भी कहा है कि वातरशन श्रमणो के धर्म का उपदेश देने के लिए उनका अवतार हुआ। जन्महीन ऋषभदेव जी का अनुकरण करना तो दूर अनुकरण करने का मनोरथ भी कोई अन्य योगी नही कर सकता, क्यो कि जिस योगबल को ऋषभ जी ने असार समझकर ग्रहण नहीं किया, अन्य योगी उसी के पाने की चेष्टायें करते हैं।

जैन ग्रन्थो मे ऋषभ को हिरण्यगर्भ भी कहा है क्यो कि उनके गर्भ मे आने पर आकाश से स्वर्ण की वर्षा हुई थी। यथा—

'गब्भट्ठियस्स जस्स उ हिरण्णवुट्ठी सकचणापडिया।
तेण हिरणगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो॥

अर्थात् जिसके गर्भ मे आने पर सुवर्ण की वृष्टि हुई उसी मे ऋषभ जगत मे हिरण्यगर्भ कहलाये।

ऋग्वेद मं० १०, सूत्र १२१ की पहली ऋचा इस प्रकार है—

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इसमें कहा गया है कि पहले हिरण्यगर्भ हुए। वह प्राणीमात्र के एक स्वामी थे। उन्होंने आकाश सहित पृथ्वी को धारण किया।

उधर महाभारत, शान्तिपर्व अ० ३४९ मे हिरण्यगर्भ को योग का वक्ता कहा है—

"हिरण्यगर्भः योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।"
अर्थात् हिरण्यगर्भ योग-मार्ग के प्रवर्तक है अन्य कोई उनसे प्राचीन नही है, तो क्या ऋषभ ही तो हिरण्यगर्भ नही है?

भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंशी थे। इक्ष्वाकु मूलतः पुरु राजाओ की एक परम्परा थी। यद्यपि ऋग्वेद मे पुरुओ को सरस्वती के तट पर बतलाया है। किन्तु उत्तर इक्ष्वाकुओं का सम्बन्ध अयोध्या मे था। जैन शास्त्रो मे अयोध्या को ही ऋषभदेव का जन्म स्थान माना गया है। उधर साख्यायन श्रौत सूत्र मे हिरण्यगर्भ को कौशल्य कहा है। अयोध्या को कोशलदेश मे कहा है। अतः कोशल देश में जन्म लेने से ऋषभदेव का कौशल्य कहा जा सकता है। इस तरह के योग के वक्ता हिरण्यगर्भ के साथ योगी ऋषभ की एकरूपता अन्वेषणीय है।

सिन्धु घाटी के उत्खनन के सहयोगी रामप्रसाद चंदा ने अपने एक लेख मे लिखा है—'मोहनजोदड़ो से प्राप्त लाल पाषाण की मूर्ति, जिसे पुजारी की मूर्ति समझ लिया गया है, मुझे एक योगी की मूर्ति प्रतीत होती है और वह मुझे इस निष्कर्ष पर पहुचने के लिए प्रेरित करती है कि सिन्धुघाटी मे उस समय योगाभ्यास होता था और योगी की मुद्रा मे मूर्तियाँ पूजी जाती थी। मोहें-जोदड़ो और हरप्पा से प्राप्त मोहरे, जिन पर मनुष्य रूप मे देवो की आकृति अंकित है, मेरे इस निष्कर्ष को प्रमाणित करती है।

सिन्धुघाटी मे प्राप्त मोहरो पर बैठी अवस्था मे अंकित मूर्तियाँ ही योग की मुद्रा मे नही है किन्तु खड़ी अवस्था मे अंकित मूर्तियां भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा को बतलाती है। मथुरा म्यूजियम मे दूसरी शती की कायोत्सर्ग मे स्थित एक ऋषभदेव जिन की मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली सिन्धु मे प्राप्त मोहरो पर अंकित खड़ी हुई देव मूर्तियो की शैली मे बिलकुल मिलती है।

ऋषभ या वृषभ का अर्थ बैल होता है और ऋषभदेव तीर्थङ्कर का चिह्न बैल है। मोहर नं ३ से ५ तक के ऊपर

अंकित देवमूर्तियो के साथ बैल भी अंकित है जो ऋषभ का पूर्वरूप हो सकता है।

इसी पर डा० राधाकुमद मुकर्जी ने अपनी हिन्दु सभ्यता नामक पुस्तक मे लिखा है—'श्री चन्दा ने ६ अन्य मुहरो पर खड़ी हुई मूर्तियो की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शलकृति, मोहे जोदडो) कोयत्सर्ग नामक योगासन मे खड़े हुये देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियो की तपश्चर्या मे विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा सग्रहालय मे स्थापित तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव की मूर्ति मे ऋषभ का अर्थ है बैल जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर सख्या एफ० जी० एच० फलक दो पर अंकित देवमूर्ति मे एक बैल ही बना है। सम्भव है यह ऋषभ का ही पूर्वरूप हो। यदि ऐसा हो तो शैवधर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है। (हि० स० २३-२४)

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान-वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागज दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज नई दिल्ल-२
स्वामित्व वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हू कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

☐

उक्त तथ्यो के प्रकाश मे जैन धर्म के प्रथम तीर्थङ्कर योगी ऋषभ देव का स्थिति पुरातत्वज्ञो के लिए अन्वेषण का रुचिकर विषय हो सकती है, और उनकी स्थिति स्पष्ट होने पर श्रमण परम्परा के उद्गम पर भी प्रकाश पड सकता है। श्रीमद् भागवत् मे जो 'वातरशनना श्रमणा-नामृषीणा' आदि लिखा है ये शब्द अनुसन्धान की दृष्टि से महत्व के है।

तैत्तिरीय आर० मे भी इसी प्रकार कहा है—'वात रशनाह ऋषय: श्रमणा उर्ध्वमन्थिनो बभुवु:' (२—७)।

ऋग्वेद (१०-१३६-२) मे भी मुनियो के लिए वात-रशना कहा है। अथर्ववेद (२।५।३) मे इन्द्र के द्वारा यतियो का वध किये जाने की कथा आती है। यह कथा एतरेय ब्रा० (७-२८) और पञ्चविंश ब्रा० (१३।४।७, ८।१।४) मे भी आई है। सायण ने अपने भाष्य में लिखा है—

'यतिर्न यतयो नाम नियम शीला आसुर्या प्रजा।… यद्वात्र यति शब्देन वेदान्तार्थ विचार शून्या: परिव्राजका विवक्षिता। (अथर्व०), अर्थात् यति माने व्रत नियम का पालन करने वाले असुर लोग। अथवा यहाँ यति शब्द से वेदान्त के विचार से शून्य परिव्राजक लेना चाहिए।

पंचविंश ब्राह्मण की व्याख्या में सायण ने एक स्थान पर यति का अर्थ 'यजनविरोधी जना:' किया है अर्थात् इन्द्र ने जिन यतियो को मारा वे सब यज्ञयागादि विरोधी और वेद विरुद्ध व्रतनियमादि का पालन करने वाले थे।

ऋग्वेद के वातरशन मुनि, तै० आ० के वातरशन श्रमण भिन्न प्रतीत नही होते। वे ही सम्भवत: यति भी हो। श्रीमदभागवत में उन्ही वातरशन श्रमणों के धर्म के साथ ऋषभावतार को जोडा गया है। यह आकस्मिक प्रतीत नही होता। इन सबके प्रकाश में श्रमण परम्परा की प्राचीनता के दर्शन होते है। उसी परम्परा को भगवान् महावीर ने अपनाकर आज से २५०५ वर्ष पहले पावा से निर्वाण लाभ किया था। हैम उनकी उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा को नमन करके अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते है।

☐

ध्यान विषयक महत्त्वपूर्ण जैनग्रंथ ध्यानशतक और उसके विविध संस्करण

☐ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

[यह आवश्यक नही कि सम्पादन-मण्डल विद्वान् लेखक के सभी विचारों से सहमत हो—सम्पादक]

जैन आगमो से यह तो भली-भांति विदित है कि भ० महावीर की साधना का मुख्य केन्द्र 'ध्यान' था। साढ़े बारह वर्षों के साधना-काल मे उन्होने अधिक से अधिक समय ध्यान और मौन मे बिताया था। उन्होने ध्यान करते-करते ही कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया था और अपने साधु-साध्वियों के लिए, आठ प्रहर मे से चार प्रहर स्वाध्याय, दो प्रहर ध्यान, एक प्रहर निद्रा, एक प्रहर आहार आदि शारीरिक कार्यों के लिए निहित किए थे। आभ्यतरिक तप मे भी उन्होने स्वाध्याय और ध्यान को तप में सम्मिलित किया है। छह आवश्यकों मे भी कायोत्सर्ग-ध्यान नित्य करने को एक आवश्यक कार्य बतलाया गया है। खेद है आगे चलकर ध्यान की वह परम्परा जैन धर्म मे कम होती गई। बौद्ध धर्म मे आज भी ध्यान का एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय विद्यमान है, जिसकी एक प्रक्रिया विपासना का प्रचार श्री सत्यनारायण जी गोयन्दका अभी भारत मे जगह-जगह कर रहे है एव उससे लोगो को बड़ी शान्ति मिलती है।

समय-समय पर ध्यान की साधना करने वाले कई जैन सन्त हुए हैं और कइ लेखकों ने इस विषय पर छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, ध्यान विषयक प्राप्त ग्रथो मे सबसे पहला ग्रथ 'ध्यान शतक" है। इसका मूलनाम ध्यानाध्ययन है। प्राकृत भाषा की एक सो पाच गाथाओं का यह ग्रंथ है। इस पर भ० हरिभद्रसूरिजी सक्षिप्त टीका संस्कृत मे छप चुकी है। पर हिन्दी-गुजराती मे इसी ग्रथ का विवेचन प्रकाशित न होने के कारण साधारण जनता के लिए यह सुलभ और सहज नही था। इधर छह-सात वर्ष के भीतर इस ग्रंथ के कई महत्वपूर्ण संस्करण प्रकाशित हो चुके है। उनकी जानकारी इस लेख मे इसीलिए दे रहा हूं कि इस विषय मे रुचि रखने वाले इन प्रकाशित सस्करणों को मगा का पूरा लाभ उठायें।

श्वे० मान्यतानुसार इस ग्रन्थ के अन्त मे एक ऐसी गाथा मिलती है जिसमे ग्रन्थकर्ता का नाम जिनभद्र श्रमण पाया जाता है। इस नाम वाले आचार्य छठी-सातवी शताब्दी मे हो गये है, जिनके रचित विशेष भाष्य बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ हे। इस ग्रथ के महत्व के सम्बन्ध में विचारक विद्वान मुनि नथमलजी ने कहा है 'इस ग्रन्थ के पढने से लगता है कि इसके रचयिता जैन-ध्यान प्रणाली के विशेष ज्ञाता और पुरस्कर्ता थे। वे स्वय ध्यान के क्रियात्मक और सैद्धांतिक पक्ष के पारगामी विद्वान् थे। ध्यान के क्रियात्मक अनुभव के बिना, इतनी सूक्ष्मता से निरूपण होना असम्भव है। जब तक ध्यान सिद्ध नही होता तब तक उसके निरूपण मे वह सूक्ष्मता या सत्यता प्रकट नही हो सकती।" यह ग्रन्थ अपने आप मे पूरा ग्रथ है। इस पर यदि विस्तार से व्याख्या-ग्रन्थ लिखा जाय तो ध्यान के क्षेत्र मे कई नये तथ्य प्रकट हो सकते है।"

१. मुनि छुल्लकराज जी ने मुनि नथमलजी से प्रेरणा प्राप्त करके सन् १९७१ मे इसका हिन्दी एवं अंग्रेजी मे अनुवाद करके मूल सहित आदश साहित्य सघ, चुरू से सन् १९७२ मे प्रकाशित करवाया। मूल्य १) है। उसके प्रारम्भ के 'दो शब्द' में उन्होंने इस ग्रन्थ के एक अन्य सस्करण की सूचना भी दी है।

२. "अभी-अभी प्रो. एस. के. रामचन्द्र राव ने इस ग्रन्थ पर कार्य किया है और उसको ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मद्रास से छपाया भी है। उसमें 'ध्यानशतक'का मूल, हरिभद्र वृत्ति, अंग्रेजी-अनुवाद और सक्षिप्त

(शेष पृष्ठ ४८ पर)

जैन वाङ्मय का संगीत पक्ष

□ श्री प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस पंडित'

भारतीय संगीत की सुदीर्घ परम्परा मे जैन मनीषियो ने भी समय-समय पर योगदान किया है। संगीत सम्बन्धी जैन ग्रन्थो के अवलोकन से तत्कालीन गीत, वाद्य एव नृत्य-पद्धति की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। प्राचीन शास्त्रकारों से लेकर आज के स्तवन रचयिताओ तक के जैन विद्वानो ने संगीत कला की अकथनीय सेवा की है।

जैन परम्परा के अनुसार संगीत के प्राचीन आचार्यों मे भरत तथा विशाखिल का स्थान सर्वोपरि है। भरत के शिष्य दत्तिल कोहल तथा विशाखिल तीनों ने संगीत ग्रथों की रचना की थी। तीनों ग्रन्थो का नाम क्रमशः दत्तिलम्, कोहलियम् तथा विशाखिलम् था। 'विशाखिलयम्' ग्रन्थ अप्राप्य है। अर्धमागधी (प्राकृत) मे रचित 'अनुयोगद्वारसुत्त' मे पद्यबद्ध संगीत विषयक सामग्री उपलब्ध होती है। यह सूत्र ईसा की पहली शताब्दी की रचना मानी जाती है। जैन आगमों की रचना का क्रमिक विकास भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के उपरान्त ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी तक अनवरत रूप से चलता रहा तथा ईसा की छठी शताब्दी तक वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ। 'अनुयोगद्वारसुत्त' के अतिरिक्त 'ठाणांगसुत्त', 'नन्दीसुत्त', 'कल्पसुत्त', 'रायपसेणीय' आदि ऐसे जैन ग्रन्थ है जिनमें संगीत विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है।

'अनुयोगद्वारसुत्त' मे स्वर, गीत, वाद्य, मूर्छना आदि का सूत्रबद्ध विवरण दिया गया है, किन्तु मूर्छनाओ के नामो का क्रम भरत के समान नही है। 'रायहसेणीय' के अनुसार, आचार्यों के तीन वर्ग माने जाते थे—कलायरिय (कलाचार्य), सिप्पायरिय (शिल्पाचार्य) तथा धम्मायरिय (धर्माचार्य)। गायन, वादन और नृत्य का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—'नट्टं गीत वाईय सरगमं पुक्खरगय समतालं' (राय, पृ० १६७)। 'ठाणागसुत्त' मे स्वरोत्पत्ति, पशु-पक्षियों की ध्वनि से सप्तस्वरो का सम्बन्ध, मानव-स्वभाव से स्वरों का सम्बन्ध, ग्राम मूर्छनाएँ, गीत के गुण-दोष आदि का विवेचन दिया गया है। उदाहरणार्थ—

> सज्ज तु अग्गजे आए उरेण रिसभ सरम्।
> कण्ठुगएण गधारं मज्झ जिब्भाए मज्झियम्॥
> नासाए पंचमं बूया दतोठेणय धैवयम्।
> मुद्धाणेपयेण सायं सरठाणा वियाहिया॥

अर्थात् षड्ज अग्रज है, उर स्थान से ऋषभ, कण्ठ से गान्धार, मध्य से मध्यम, नासा से पचम एवं दन्तोष्ठ से धैवत का उद्भव होता है।

> सज्ज रवइ मयूरो ककुभो ऋषभं स्वरम्।
> हंसो णदई गधार मज्झिम तु गवे लगा॥
> अटट कुमभसंभवे काले कोइला पंचम सरम्।
> छठं च सारसा कोंचा णेसाय सत्तमैगमन॥

अर्थात् षड्ज ध्वनि मयूर की, ऋषभ कुक्कुट की, गान्धार हस की, मध्यम गौओं की, पंचम कोकिल की, धैवत क्रौंच की तथा निषाद सारस पक्षी की ध्वनि है।

सूत्र के अनुसार गीत के छः दोष तथा आठ गुण बताए गए है—डर कर गाना, शीघ्र गाना, धीरे गाना, तालरहित गाना, काक स्वर से गाना तथा नाक से गाना। आठ गुण हैं—पूर्ण कला से गाना, राग को रजक बनाकर गाना, अन्य स्वर विशेष से अलंकृत करके गाना, स्पष्ट गाना, आक्रोशविहीन स्वर मे गाना, मधुर स्वर मे गाना, तालयुक्त गाना तथा सुकुमार रीति मे गाना।

जैन आगमों के सार्वजनिक प्रचार हेतु 'चलित' नामक गीतो का प्रयोग किया जाता था। जैन सूत्रों के पठन-पाठन हेतु वैदिक साहित्य की उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित वाली स्वरोच्चारण प्रणाली प्रयुक्त थी। 'रायपसेणीय' तथा 'अनुयोगद्वार' के अतिरिक्त 'वियाहपण्णत्ति', 'जीवाभिगम', 'जम्बूद्दीवपण्णत्ति' आदि जैन ग्रन्थों में तत्कालीन प्रचलित वाद्यों का उल्लेख मिलता है

'ठाणांगसुत्त' के संस्कृत टीकाकार अभयदेव के अनुसार चौदह पुव्व ग्रंथों में से एक था—'पूर्वगतस्वरप्राभृत'। इसमें इक्कीस मूर्छनाओं तथा ग्यारह अलंकारों का वर्णन था।

दिगम्बर जैन मुनि अभयचन्द्र के प्रशिष्य पार्श्वचन्द्र ने लगभग विक्रम संवत् १३८० में 'संगीतसमयसार' नामक महत्वपूर्ण संगीत ग्रंथ की रचना की। यह ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रंथमाला में प्रकाशित हो चुका है। इसमें नौ अधिकरण है, जिनमे नाद, ध्वनि, स्थायी, राग, वाद्य, अभिनय, ताल प्रस्तार तथा आध्वयोग का सविस्तर उल्लेख है। इसी समय आचार्य राजशेखरसूरि के शिष्य सुधाकलश ने 'संगीतोपनिषद्' नामक बृहत् ग्रन्थ की रचना की, जो अनुपलब्ध है। किन्तु इसी लेखक की विक्रम संवत् १४०६ की रचना 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' उपलब्ध है, जो गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित हो चुकी है। यह प्रति 'संगीतोपनिषद्' की सार रूप है तथा 'संगीत मकरन्द', 'संगीत पारिजात' जैसे संगीत जगत् के मान्य ग्रन्थों से कही अधिक महत्वपूर्ण है। गीत-प्रकाशन, ताल-प्रकाशन, रागादि प्रकाशन, वाद्य-प्रकाशन नृत्यांग-प्रकाशन, तथा नृत्य-पद्धति-प्रकाशन, इस प्रकार इसके छह अध्याय ६१० श्लोकों में निबद्ध है। महत्व नरचन्द्रसूरि का संगीतज्ञ के रूप में इस ग्रंथ मे उल्लेख किया गया है। 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' के अनुसार जैन ग्रन्थावली मे 'संगीत दीपक', 'संगीत रत्नावली' तथा 'संगीत सहपिंगल' का उल्लेख है। किन्तु इनके सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त नही हुई है। वि० स० १४९० में माण्डव के सुल्तान आलमशाह के मन्त्रिमण्डल ने 'संगीत मण्डन' नामक ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ उप-उपलब्ध है, किन्तु अप्रकाशित है।

कच्छ के महाराज लखपत (सं० १८१७ मे स्वर्गवास) ने जैन यति भट्टारक कनककुशल व उनके शिष्य कुवर-कुशल के सहयोग से 'बृजभाषा पाठशाला' स्थापित की थी, जिसमें कई हिन्दी कवि तैयार हुए। कुवरकुशल संगीतशास्त्र के भी पण्डित थे। उनकी आठ रचनाओं का परिचय 'वल्लभसूरि स्मृति-ग्रन्थ' मे शोधमनीषी श्री अगर-चन्द जी नाहटा ने दिया है। आठवीं रचना 'रागमाला' है, जिसमे राग-रागिनियों के स्वरूप तथा लक्षण दिये गये है।

ऐसे और भी अनेक जैन ग्रन्थ हो सकते है, जिनमे संगीत विषयक महत्वपूर्ण सामग्री समाविष्ट है, किन्तु कई कालकवलित हो चुके है और कई शोध का विषय बने हुए हैं। □□

[पृ० ४६ का शेषांश]

विवरण है। कहीं-कहीं उनके और मेरे द्वारा प्रस्तुत अनुवाद मे बहुत बड़ा अन्तर आ गया है।"

३. इसी समय के आसपास ध्यानशतक का कुछ विवेचन गुजराती मे पूज्य मुनिश्री पन्यास भानुविजय जी ने लिखा, जो कि सं० २०२७ मे दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। ३२२ पृष्ठों का यह ग्रन्थ गुजराती विवेचन दृष्टि से बड़े महत्व का है। इसका मूल्य ३) रु. है।

४. सन् १९७६ मे ध्यानशतक का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है, जिसमें आलोचनात्मक प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद, विविध परिशिष्ट एवं संस्कृत टीका भी है। साथ ही दि. भास्कर नन्दी के ध्यानस्तव को भी अनुवाद के साथ ही दिया गया है। मू० १० रु. है। पं० बालचन्दजी शास्त्री ने इस ग्रंथ के सम्पादन मे बहुत श्रम किया है। मूल ग्रंथ तो टीका, अनुवाद के साथ ७२ पृष्ठो मे ही है, किन्तु इसकी प्रस्तावना ८५ पृष्ठों की है। इसी से वह कितनी पठनीय की है, पाठक स्वयं समझ सकेंगे। पण्डित जी ने ध्यान-शतक की अन्तिम गाथा को मान्यता नहीं दी, इसीलिए इसके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के होने मे सन्देह किया है क्योंकि हरिभद्र सूरि ने १०५ गाथाओं की भी टीका की एवं ग्रन्थकार का नाम नहीं दिया। पर लगता है हरिभद्र सूरि को जो प्रति मिली है, उसमे ग्रंथकार के नाम वाली अन्तिम गाथा नहीं होगी। जब अन्य प्रतियों मे वह मिलती है तो, मेरी राय मे, पण्डित जी को शंका नहीं करनी चाहिए थी। श्वे० परम्परा मे तो यह जिनभद्र क्षमाश्रमण की ही कृति है, यह मान्यता बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ तो मुझे विगत छः वर्षों में ध्यानशतक के जो हिन्दी के दो, अंग्रेजी के दो, गुजराती का एक अनुवाद प्रकाशित हो चुके है, उन चार ग्रन्थों से पाठकों को परिचित करना ही अभीष्ट है।

आशा है कि पाठक उनसे लाभ उठायेंगे एवं हिन्दी में कोई विस्तृत विवेचन शीघ्र प्रकाशित किया जायेगा। □□

प्राकृत का बृद्द्रव्यसंग्रह और उसकी महत्ता

—पं० नाथूराम जैन 'डोंगरीय', इन्दौर

बृद्द्रव्यसंग्रह प्राकृत भाषा में निबद्ध भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट अनेकांतात्मक वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक, जैन दर्शन का एक लघुकाय किंतु सारगर्भित एवम् महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका समाज में द्रव्यसग्रह के नाम से पठन-पाठन बड़ी श्रद्धा और रुचिपूर्वक किया जाता है। प्रचलित परंपरानुसार इसके रचयिता गोम्मटसार, त्रिलोकसारादि सिद्धांत ग्रंथो के निर्माता एवम् श्रवणबेलगोला में विराजमान् भगवान् बाहुवली के बिशाल बिब के प्रतिष्ठापक तथा तत्कालीन राजा चामुडराय के गुरु आचार्य प्रवर श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती थे इसके हिंदी मे आद्यवचनिका एवम् भाषा पद्यानुवाद कर्ता स्व प. जयचन्दजी छावड़ा ने अब से करीब पौने दो सौ वर्ष पूर्व अपनी कृति मे इन्ही आचार्य को द्रव्यसग्रह का मूलकर्ता माना है तथा इसकी ब्रह्मदेव सूरि कृत संस्कृत टीका के हिन्दी टीकाकार श्री पं. जवाहरलाल जी शास्त्री ने भी ग्रंथ की प्रस्तावना मे सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र का ही ग्रथकर्ता के रूप मे उल्लेख किया है। इनका समय विक्रम सं. १०३५ (ग्यारहवी शताब्दी) है। किंतु, ग्रथ की सस्कृत टीका के कर्त्ता श्रीमद्ब्रह्मदेव सूरि ने ग्रथकर्ता नेमिचन्द्र आचार्य की उपाधि का उल्लेख 'सिद्धांतचक्रवर्ती' न कर 'सिद्धांतिदेव' के नाम से किया है। हो सकता है कि कालांतर में सिद्धांतचक्रवर्ती को ही मान देकर संक्षेप मे 'सिद्धातिदेव' कहा जाने लगा हो।

आधुनिक इतिहासज्ञ मनीषियों की शोधखोज के अनुसार नेमिचन्द्र नाम के तीन आचार्य हुए हैं, जिनमें प्रथम राजा चामुण्डराय के गुरु सिद्धातचक्रवर्ती के पद से अलंकृत थे। दूसरे नेमिचन्द्र वसुनंदि सिद्धातिदेव के गुरु थे, जो प्रथम (सिद्धांतचक्रवर्ती नेमिचन्द्र) से करीब ६० वर्ष पश्चात् हुए और जिनका समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी निश्चित होता है। ये सिद्धांतिदेव के पद से विभूषित थे। तीसरे नेमिचन्द्र गोमट्टसार (प्राकृत) की सम्कृत टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका के निर्माता थे।

वस्तुत: इस ग्रथ के रचयिता कौन से नेमिचन्द्राचार्य थे इसका निर्णय इतिहास के पुष्ट प्रमाणो से ही हो सकता है, किंतु इतना तो निश्चित ही है कि मूल ग्रथकर्त्ता श्रीमन् नेमिचन्द्राचार्य है और चूकि वे वीतरागी सत थे अत. ग्रंथ की प्रामाणिकता एवम् उपादेयता भी असदिग्ध है।

ग्रंथ की विशेषता एवम् वर्तमान सामाजिक परिस्थिति के संदर्भ में उपयोगिता

यह है कि इसमे जीवादिक द्रव्यो, आस्रवादि तत्त्वों एवम् मोक्षमार्ग का निरूपण व्यवहार तथा निश्चय-उभयनय सापेक्ष (प्राय: प्रत्येक गाथा मे साथ २) किया गया है—ताकि अनेकांतमयी वस्तुतत्त्व का सक्षेप में यथार्थज्ञान प्राप्त कर मानव आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हो सके तथा सर्वथा निश्चयैकांत या व्यवहारैकांत के आश्रय से कदाग्रही बनकर एकातमिथ्यात्व के कुचक्र मे न फंसे। अत: इसका निष्पक्ष एवम् जिज्ञासु भाव से अध्ययन करने पर अनेक भ्रांतियों का —जो नयों की खींचतान से उत्पन्न हो रही या हो सकती है—सहज ही निराकरण भी हो जाता है।

आज समाज के अधिकांश विद्वज्जनों, पत्र-पत्रिकाओं, धर्मसभाओं एवम् घर-घर में पिता पुत्र से, भाईबहिन से पति पत्नी से तथा एक धर्मबंधु इतर धर्मबंधु से विभिन्न नयों द्वारा प्रतिपादित वस्तु स्वरूप के सम्बन्ध में सर्वथा एकांत दृष्टिपक्ष को ग्रहणकर परस्पर में विसंवाद करता दिखाई दे रहा है और इस प्रकार दृष्टिमोह वश दुराग्रही बनकर अपने प्रिय नय पक्ष को ही पूर्ण सत्य एवं इतर पक्ष को सर्वथा मिथ्या मान व प्रतिपादन कर वस्तु के अनेकांतमयी स्वरूप एवं उसके भगवद्वाणी द्वारा स्याद्वाद रूप प्रतिपादन का खंडन वा उपहास करने में अपनी अज्ञतावश (स्वयं को सर्वज्ञ मान) तनिक भी संकोच नहीं कर रहा।

अनेक विद्वज्जन भी वीतराग वाणी का वीतराग भाव से प्रतिपादन न करते हुए पक्षव्यामोह के कुचक्र में पड़कर अनेकांत और स्याद्वाद की सत्यतापरक गरिमा को भुलाकर या जानबूझकर अथवा अज्ञतावश (जाने-अनजाने) अनेकांतमयी वस्तु स्वरूप का स्याद्वाद रूप प्रतिपादन करने से दिनोंदिन विमुख होते जा रहे हैं। इससे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैनसिद्धांत या तो अन्य सांख्य वेदांतादि दर्शनों के समान सर्वथा एकांतपरक है (जैसा कि वे प्रतिपादन कर रहे हैं) और या भगवान् ने जो अनेकांत को परमागम का प्राण तथा नयों के विभिन्न विषयों संबंधी परस्पर विरोध को मथन करने वाला प्रतिपादन किया है वह शायद ठीक नहीं है या फिर जैन सिद्धांत अभी अनिर्णीत और विवादास्पद है, जिसका निर्णय होना शायद अभी शेष है।

जैनी जिस स्याद्वाद प्रणाली द्वारा दुनिया के मत-मतान्तरों के सर्वथा एकांत पक्षजन्य विवादों का निर्मूलन कर सत्य और समन्वय के उदार दृष्टिकोण द्वारा सांप्रदायिकता का विनाश एवं विश्वबन्धुत्व की भावना के प्रचार-प्रसार से मानव समाज में पारस्परिक सद्भाव एवं विश्व में सत्य व शांति की प्रतिष्ठा करने का दावा करते आ रहे है, उन्हें स्वयं ही एकांत की तलवार लेकर परस्पर में प्रहार करते देखकर बड़ा खेद और आश्चर्य होता है !

प्रत्येक वस्तु के अनेकांतात्मक (निश्चय-व्यवहारात्मक) होने से निश्चय और व्यवहार नय उसका यथार्थ ज्ञान कराने के साधन है, अतः निष्पक्ष भाव से उभय नयों द्वारा वस्तु का—जैसी कि वह है—ज्ञान करना-कराना ही हितकर, प्रामाणिक व सत्य हो सकता है, न कि एक नय की सर्वथा एकांत-दृष्टि से। श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में नयों की एकांतपरक खींचतान करनेवालों को इसीलिए चेतावनी देते हुए लिखा भी है :—

"अत्यंतनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥"

(अर्थात्) जिनेन्द्र का नयचक्र अत्यंत तीक्ष्ण धारवाला होने से बड़ी सावधानी से प्रयोग करने योग्य है; क्योंकि इसकी मूर्खतापूर्ण खींचतान कर प्रयोग करनेवालों के मस्तक को यह तुरन्त ही विदीर्ण कर डालता है, अर्थात् निश्चयाभास की तेज धार से सद्ज्ञान का घात कर उसे मार्गभ्रष्ट कर देता है।

तात्पर्य यह है कि जैनसिद्धांत वैज्ञानिक सत्य पर आधारित है और वह सत्य अनेकांतात्मक है, जबकि प्रत्येक नय यदि वह सुनय है तो वह इतरनय सापेक्ष होकर ही सत्य का द्योतक कहा जाता है और यदि वह इतर नय निरपेक्ष है, अर्थात् अन्य सुनय द्वारा प्रतिपादित वस्तु में विद्यमान धर्म को गौण न करके उसका निषेध कर उसे झुठलाने और खंडन करने लगता है तो वह एकांत मिथ्यात्व का पोषक दुर्नय बन जाता है। परमपूज्य स्वामी समन्तभद्र ने निम्नलिखित श्लोकांश द्वारा इसी तथ्य को प्रगट किया है :—

"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।"

(अर्थात्) कोई भी नय इतर नय निरपेक्ष होकर मिथ्या बन जाता है और इतर नय सापेक्ष होकर वस्तु के स्वरूप का प्रकाशक।

भगवान महावीर ने अनेकांतात्मक वस्तु को, एक नय द्वारा वस्तु में विद्यमान एक धर्म को मुख्य तथा शेष धर्मों को गौण (न कि निषेध) कर प्रतिपादन करने की रीति एवं नीति को ही वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध करानेवाला कहा है, जैसा कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अन्तिम पद्य में श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने दरशाया है :—

"एकेनाकर्षन्ती श्लथयंती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मंथाननेत्रमिव गोपी।"

(अर्थात्) जिस प्रकार गोपिका दही से मक्खन निकालने के लिए मथानी की रस्सी के एक छोर को अपनी ओर

खींचती व दूसरे छोर को ढील देते हुए भी पकड़े रहकर, फिर उसे अपनी ओर खीचती व प्रथम को ढील देती है एवं अपनी इस बारंबार की प्रक्रिया द्वारा ही मक्खन निकालने मे समर्थ होती है (यदि वह ऐसा न करे और रस्सी के किसी एक छोर को पकडकर ही खीचती जाय तो दही से मक्खन नही निकल सकता) उसी प्रकार जैनी नीति भी वस्तु विषयक एक नय पक्ष को मुख्य व शेष को गौण तथा पुन. शेष को मुख्य व मुख्य को गौण कर वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन व ज्ञान करने मे समर्थ होती है, अन्यथा नही।

पूज्य स्वामी जी ने इसके पूर्व ग्रंथ की प्रस्तावना में अपने शिष्यो को यह भी स्पष्ट किया है कि—

"व्यवहारनिश्चयौ य. प्रवुद्ध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनाया. स एवफलमविकल शिष्य. ।।"

(अर्थात्) व्यवहार और निश्चय द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तात्मक वस्तु के स्वरूप को जानकर जो मध्यस्थ बना रहता है—किसी नय के पक्ष व्यामोह मे नही पडता—वही शिष्य भगवान की देशना के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है, अर्थात् सम्यक्ज्ञानी बनकर आत्मकल्याण का पात्र होता है, एकांती नही। किन्तु हम आज मताग्रही बनकर मध्यस्थ भाव का परित्याग करते जा रहे है।

परमपूज्य भगवन् कुंद-कुंद स्वामी ने यही बात समयसार मे भी स्पष्ट रूप मे घोषित कर दी है। वे ग्रंथ के कर्त्ता कर्माधिकार मे कहते है—

"दोण्हंवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्ख परिहीणो।।

(अर्थात्) आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला ज्ञानी दोनो ही नयो (निश्चय और व्यवहार) के कथन को केवल जानता ही है, परन्तु नय पक्ष को किंचित् भी ग्रहण नही करता, क्योकि वह नयो के पक्षपात से रहित (मध्यस्थ) होता है।

इस गाथा के भावार्थ में समयसार के सर्वप्रथम हिंदी टीकाकार श्रद्धेय स्व. श्रीमान् प. जयचद जी छाबड़ा ने निम्न वाक्य लिखे हैं —

'एक नय की पक्ष के सर्वथा ग्रहण करें तो मिथ्यात्व से मिला हुआ पक्ष का राग हो तथा प्रयोजन के वश से एक नय को प्रधानकर ग्रहण करें तो मिथ्यात्व के बिना चरित्र मोह के पक्ष से राग रहे और जब नय पक्ष को छोड़ वस्तु-स्वरूप को केवल जानता ही हो तब उस काल श्रुतज्ञानी भी केवली की तरह वीतराग के समान ही होता है ऐसा जानना।"—(समयसार, पृष्ठ २०७, परमश्रुत प्रभावक मंडल द्वारा प्रकाशित—सन् १९१९)

बात असल मे यह है कि वस्तु स्वय अनेकान्तात्मक या निश्चय व्यवहारात्मक है। तभी वह निश्चय और व्यवहार नय का विषय होकर निश्चय नय द्वारा उसके स्थाई अश को ध्रौव्य रूप मे तथा व्यवहार नय के द्वारा उसी के अस्थायी अश (पर्याय) को उत्पादव्ययात्मक अध्रुव रूप में प्रतीत होती है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' एवं—'सद्द्रव्यलक्षण' इन सूत्रो द्वारा वस्तु के इस अनेकांतमयी स्वरूप का ही तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है। "अर्पितानर्पित सिद्धे:" अर्थात् प्रयोजनवश कभी पर्यायो को गौण कर द्रव्य की मुख्यता से उसका (वस्तु का) नित्य (ध्रौव्य) रूप कथन और कभी पर्यायो की मुख्यता से द्रव्य दृष्टि को गौण कर पदार्थ का अनित्य रूप (उत्पादव्ययात्मक) कथन कर वस्तु मे कथचित् नित्यता और अनित्यता की सिद्धि होती है, जैसी कि प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक या नित्यानित्यात्मक स्वतः सिद्ध है। न तो वस्तु मे नित्यता असत्य है और न अनित्यता। यही बात भेद-अभेद, बद्ध-अबद्ध, शुद्ध-अशुद्ध आदि दृष्टियो मे भी लागू होती है। उदाहरण के रूप मे, प्रत्येक जीव जीवत्व (चैतन्य) सामान्य की दृष्टि से (अजीव द्रव्य के गुण पर्याय से रहित) शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा शुद्ध है, किन्तु व्यवहार नय से कामी, क्रोधी, मानी आदि कोई ससारी है और कोई परमात्म्य दशा को प्राप्त अरहत या सिद्ध है। इसी प्रकार, भेद-अभेद आदि दृष्टियों से भी वर्णन किया जाता है। अपने-अपने विषय को मुख्य और शेष को गौण कर कथन करनेवाले इस प्रकार सभी नय सत्य है। न तो पर्याय दृष्टि से जीव का ससारीपना या मुक्तपना झूठा है और न जीवत्व दृष्टि से उसका शुद्ध चैतन्यपना। इसी प्रकार, भेद दृष्टि से जो ससारी है वह मुक्त नही, जो देव है वह मनुष्य नही। अभेद दृष्टि से मनुष्य भी जीव है, देव भी, तथा ससारी भी और मुक्त भी।

आधुनिक युग में कुछ मनीषी उत्पादव्ययात्मक पर्यायों को आत्मा या वस्तु से सर्वथा भिन्न व मिथ्या मान उनको विषय करनेवाले व्यवहार नय को भी सर्वथा मिथ्या मान व घोषित कर अपने को सम्यक्दृष्टि मान रहे हैं। वे यहां तक मानते और दूसरो को प्रतिपादन करते है कि जो अपनी शुद्ध पर्याय को भी अपनी मानता है वह मिथ्या दृष्टि है। यह सूत्रविरुद्ध भ्रमपूर्ण मान्यता अनेकात सिद्धात का स्पष्टतया अपलाप है। क्या कोई भी वस्तु या आत्मा कभी भी पर्यायरहित होती या हो सकती है? पर्यायें शुद्ध और अशुद्ध परिस्थिति के अनुसार हो सकती है और है। किन्तु वे हैं द्रव्य की ही। न तो कभी द्रव्य पर्यायों से भिन्न या शून्य होता है और न पर्यायें ही स्वतंत्र रूप में द्रव्य से भिन्न कभी और कही उत्पन्न होती या हो सकती है। आखिर पर्यायें स्वतंत्र वस्तु न होकर द्रव्य का परिणमन ही तो हैं, जो कि वस्तु का स्वभाव है। परमपूज्य आचार्य कुदकुद देव ने प्रवचनसार में इसी सत्य को उद्घाटित करते हुए गाथा नं. १०१ मे स्पष्ट किया है :—

"उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जते पज्जयेसु पज्जाया।
दव्वत्ति सतिणियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं॥"

(अर्थात्) उत्पाद स्थिति (ध्रौव्य) और विनाश पर्यायो में रहते है और निश्चय करके ये पर्यायें द्रव्य मे रहती है। इस कारण निश्चित रूप मे वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मयी पर्यायें द्रव्य ही है।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में आगे उन्होंने गाथा नं. १०२ से १०५ तक इसी सत्य और तथ्य को निरूपित कर और भी स्पष्टीकरण किया है।

यहां आचार्य महोदय ने न केवल उत्पादव्यय-स्वरूप अशों को ही पर्याय माना है, प्रत्युत ध्रुवाश को भी पर्याय ही मानकर द्रव्य को पर्यायों का समूह प्रतिपादित किया है। यदि पर्यायो और उनमें भी अपनी शुद्ध पर्यायो को सम्यक्-दृष्टि अपनी नही मानता तो किसको मानता है? यदि वह अपनी शुद्ध पर्याय को अपनी मानने से मिथ्यादृष्टि हो जाता है, तब आचार्य श्री का उक्त कथन ही मिथ्या सिद्ध होगा जो कि इनकी मान्यता से सर्वथा मेल नही खाता और आचार्य श्री के कथन को मिथ्या तथा इन मनीषियो के कथन को सम्यक् मानकर श्रद्धान करना सभव नही है; क्योंकि वह सत्य और तथ्य शून्य होकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी विरुद्ध है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि तब फिर शास्त्रो में पर्याय-दृष्टि को मिथ्यादृष्टि क्यो कहा?

समाधान यह है कि पर्याय को द्रव्य की जानने या पर्यायो पर दृष्टि डालनेवालों को मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है, बल्कि उस व्यक्ति को मिथ्यादृष्टि कहा है कि जो केवल मनुष्य देवादि रूप संयोगी पर्याय मात्र को ही आत्मा मान-कर अपने चैतन्य स्वरूप आत्मद्रव्य को न समझता हुआ भ्रमित हो रहा है, अर्थात् मनुष्यादि अशुद्ध पर्यायों में अहंकार ममकार करता हुआ अपने वास्तविक रूप को भुला देता है और अपने वास्तविक गुण पर्यायो के स्वरूपो को न जानता हुआ सयोगी पर्याय में ही मुग्ध हुआ उसे अपना स्वरूप मान तावन्मात्र अपनी श्रद्धा कर लेता है। प्रवचन-सार की गाथा ९३ और ९४ में इसी तथ्य को मूल ग्रंथकर्ता आचार्य श्री ने तथा उसके टीकाकारों ने स्पष्ट भी किया है।

वास्तविकता यह है कि विभिन्न नयों द्वारा परस्पर विरोधी कथन का होना—वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी जैसे धर्मों, गुणों या पर्यायों की विभिन्नता को विषय करने के कारण—स्वाभाविक है। जैसे एक नय वस्तु को द्रव्यत्व या गुणों के अन्वयी भाव के कारण नित्य व शुद्ध जानता व प्रतिपादन करता है तो दूसरा उसी वस्तु की पर्यायो की मुख्यता से अनित्य व अशुद्ध नित्यता द्रव्य-गुण सापेक्ष और अनित्यता पर्याय सापेक्ष है। इसीलिए उभय नयो का कथन भी परस्पर में सापेक्ष व एक दूसरे का पूरक होकर अनेकातात्मक वस्तु का यथार्थ ज्ञान कराने में सहायक होता है, न कि एक-दूसरे के विषय का खंडन करके। सभी नयो को अपने-अपने विषय को मुख्य करके कथन करने की स्वतंत्रता एव अधिकार है, साथ ही उन्हें उस समय दूसरे नय के विषय को गौण करते हुए उनसे मित्रता (सापेक्षता) बनाए रखना भी अनिवार्य है, यदि वे सुनय है। एक सुनय दूसरे सुनय के विषय में न तो हस्तक्षेप करता है और न उसका खडन ही। अतः दूसरे नयो के विषय की सत्यता को वह भलीभाति जानता है। ईसके सिवाय दूसरे नयो या उनके विषयो को खडन करने अथवा

झुठलाने का उसे कोई अधिकार भी नहीं है, क्योंकि वस्तु के अनेकातात्मक होने से दूसरा नय भी तो उसी वस्तु मे विद्यमान उससे भिन्न दूसरे सत्याश को ही ग्रहण व प्रतिपादन कर रहा होता है।

अतः किसी भी नय का पक्षपाती बनकर दुराग्रह करना न तो उचित है और न वह जिनागम के अनुकूल है। हो सकता है कि किसी को किसी नय विशेष से अधिक प्यार और उसी को परम सत्य मानने का भ्रम हो गया हो, किन्तु ऐसे मोही जन ही एकांत मिथ्यात्वी कहे जाते है, यह हमें सदैव ध्यान में रखना है।

इसीलिए वक्ता और श्रोता दोनो को नयों के स्वरूप को भलीभांति समझकर ही निष्पक्ष भाव से वस्तु तत्त्व जानना व अन्य को प्रतिपादन करना स्व पर हित में उपादेय व उचित है; क्योकि शास्त्र की गादी पर वक्ता जैन सिद्धात का प्रतिपादक होता है, न कि अपनी निजी संकुचित एव कल्पित मान्यताओं और पक्षपातपूर्ण एकातिक रुचि व विचारधारा का।

प्रमाण और नय

"प्रमाणनयैरधिगम." मोक्षशास्त्र के इस सूत्र के अनुसार वस्तु तत्त्व का ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है, अर्थात् प्रमाण और नय वस्तु स्वरूप को जानने के साधन है। अनेकातमयी वस्तु के सर्वांग ज्ञान को प्रमाण तथा उसके किसी अश की मुख्यता को लेकर एकागी ज्ञान या उसके प्रगट करने के अभिप्राय को नय कहते है। प्रत्येक वस्तु अनेकातात्मक—अपने अनंत गुणो और पर्यायों का अखड पिड है। अत. उसको प्रमाण द्वारा वैसा ही जानकर उसमे विद्यमान एक गुण, धर्म या पर्याय को मुख्य तथा शेष को गौणकर कथन करने को स्याद्वाद कहा जाता है। प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष के भेद से दो भेद हैं। इन्द्रियों और मन आदि पर वस्तु की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष प्रमाण है तथा बिना किसी की सहायता के आत्मिक शक्ति से प्रगट होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

नय के भी मुख्य दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यार्थिक। द्रव्य-गुण-पर्याय के अखंड पिड स्वरूप वस्तु को द्रव्य की मुख्यता से जानने या कथन करने को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। पर्यायों या गुणों को वस्तु के अंश या भेद रूप में ग्रहण कर जानने वा कथन करने को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। नैगमसग्रहादि इन्ही नयों के भेद हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में इन्हीं नयों का निश्चय और व्यवहार नय के नाम से प्रतिपादन एव प्रयोग किया गया है—द्रव्यार्थिक को निश्चय व पर्यायार्थिक को व्यवहार। इनमे निश्चय नय को प्राय: भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा गया है।

भूतार्थ शब्द-भूत+अर्थ, इस प्रकार दो शब्दों के योग से बना है। भूत शब्द के अनेक अर्थ हैं—हित, सत्य, द्रव्य, जीव, प्रेतियोनि, अतीतकाल, मूलतत्त्व आदि। इसी प्रकार, अर्थ शब्द भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे—प्रयोजन, अभिप्राय, धन, हेतु, विषय आदि। यहा किस अर्थ में भूत का अर्थ शब्द का प्रयोग किया गया है, यदि इसपर विचार करें तो प्रकरण को देखते हुए भूत शब्द द्रव्यवाचक एवं अर्थ शब्द विषय या प्रयोजन वाचक सुसगत प्रतीत होता है। तदनुसार द्रव्य (सामान्य) है। प्रयोजन या विषय जिसका वह भूतार्थ नय है और जिसका विषय द्रव्य नही है—पर्यायादि विशेष हैं, वह अभूतार्थ नय है। यत: शुद्ध निश्चय नय (अपर नाम द्रव्यार्थिक नय) पर्यायादि भेदो को गौण कर द्रव्य (सामान्य व अभेद) दृष्टिप्रधान है, अत: वह भूतार्थ है तथा व्यवहार नय द्रव्य को गौण कर पर्याय (विशेष) दृष्टि प्रधान है अत. अभूतार्थ है।

भूत शब्द का अर्थ सत्य भी है जिससे निश्चय नय को सत्यार्थ एव व्यवहार नय को असत्यार्थ भी कहा गया है—जिसका उल्लेख श्रीमज्जयसेनाचार्य कृत समयसार की ११वी गाथा की टीका में पाया जाता है; किन्तु इसी ११वी गाथा की टीका मे उक्त आचार्य ही गाथा का द्वितीय रूप में व्याख्यान करते हुए व्यवहार नय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो भागों में विभक्त करते है। वे लिखते है कि व्यवहार नय भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो भेद रूप हैं, उसी प्रकार शुद्ध नय भी भूतार्थ और अभूतार्थ (शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय) के भेद से दो भेद रूप हैं। उनके शब्द हैं—

"द्वितीय व्याख्यानेन पुनः ववहारो अभूदत्थो-व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः न केवलं व्यवहारो देशितः, सुद्धणओ शुद्ध निश्चय नयोऽपि। तु शब्दादय शुद्ध निश्चय नयो पि द्विधा शुद्धनिश्चया-शुद्धनिश्चयभेदेन निश्चय नयोऽपि द्विधा इति नय चतुष्टयं।

—समयसार, रामचन्द्र शास्त्रमाला, पृष्ठ २४।

श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने भी समयसार की १४वी गाथा की टीका में व्यवहारनय की दृष्टि प्रधान कथन को कथंचित् भूतार्थ कहा है और उसी प्रकार शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि प्रधान कथन को भी कथचित् ही भूतार्थ कहा है। वे कहते है—आत्मा का अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्तपना शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से विचारने पर भूतार्थ है और व्यवहार नय की दृष्टि से देखने पर बद्ध, स्पृष्ट, अन्य, अनियत, सविशेष तथा सयुक्तपना भी भूतार्थ है। यत दोनो नयो के विषय भिन्न है। शुद्ध नय का विषय गुण पर्यायो के भेदो को गौणकर शुद्ध एक अखड नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा है, जबकि व्यवहार नय द्वारा द्रव्यदृष्टि को गौण एवं पर्यायों को मुख्य कर कथन करने से आत्मा ससार दशा मे बद्ध, स्पृष्ट आदि रूप में ग्रहण व प्रतिपादन करने मे आता है। अतः इस दृष्टि से व्यवहार नय भी सत्यार्थ है ? क्योकि आत्मा स्वय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक व स्वभावतः गुण पर्यायात्मक है। अतः अपने-अपने विषय को मुख्य तथा अन्य नय के विषय को गौण कर कथन करते हुए दोनो ही नय सत्यार्थ या भूतार्थ है एव सुनय होकर वस्तु का यथार्थ ज्ञान करने-कराने मे सहायक है।

वस्तुतः एक नय (सुनय) अन्य नयो के विषय को गौण एव अपने दृष्टिगत विषय को मुख्य कर कथन करने का ही अधिकारी है। वस्तु मे विद्यमान धर्म, गुण या पर्याय को, जो अन्य नय का विषय हैं, निषेध करने या उसे झुठलाने का न तो उसे कोई अधिकार व इष्ट ही होता है और न वस्तु का वैसा (सर्वथा एकातमयी) स्वरूप ही है। जब भी एक नय दूसरे नय को कदाग्रह या अहकार अथवा पक्षपात-वश झुठलाएगा या उसके विषय को गौण न कर निषेध करेगा तभी वह स्वय भी निरपेक्ष हो जाने से मिथ्यैकांत के गर्त में गिरकर असत्य की कोटि मे चला जाएगा। अतः जैन सिद्धांत में नयो को अंश-अंश रूप मे वस्तु का परिज्ञान करानेवाला होने से उनको परस्पर मैत्री-भाव (अन्य नय सापेक्षता) रखकर ही वस्तु के सत्यांश का प्रतिपादक माना गया है।

भूत शब्द का अर्थ हित भी है, अतः इस दृष्टि से कोई-कोई मनीषी केवल निश्चय नय को ही आत्मा का हित साधक मान निश्चय को भूतार्थ व व्यवहार नय को अहित-कारी मान उसे अभूतार्थ व सर्वथा हेय प्रतिपादन करते देखे जाते है। किन्तु शिष्यों को तत्त्व बोध कराने में व्यवहार नय ही प्रयोजनवान् होने से, हितकारी भी सिद्ध होता है; यहा तक कि सभी जीवों को प्रारभिक अज्ञान दशा में व्यवहार नय ही तत्त्व बोध करने में अनिवार्य साधन है अतः इस अर्थ में भी व्यवहार नय भूतार्थ सिद्ध होता है।

इस प्रकार, समयसार में श्रीमदमृतचन्द्राचार्य ने तथा श्रीमज्जयसेनाचार्य ने जो निश्चय और व्यवहार दोनो नयो का भूतार्थ व अभूतार्थ रूप में प्रतिपादन किया है वह उल्लिखित विवरण मे गभीरतापूर्वक भली-भाति विचारने पर यथार्थ व न्यायोचित सिद्ध हो जाता है।

इसके सिवाय श्रीमज्जयसेनाचार्य ने समयसार की ही ११५वीं गाथा की टीका करते हुए, निश्चय और व्यवहार नयो को दो नेत्रो की सज्ञा दी है और उनके परस्पर सापेक्ष होने पर ही दोनो को सत्य सिद्ध किया है। उनके शब्द निम्न प्रकार है :—

"कि च, शुद्ध निश्चयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्व भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीय पक्षे व्यवहारेण कर्तृत्व भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्व च लभ्यते एव। कस्मात् ? निश्चयव्यवहारयो परस्पर सापेक्षत्वात्। कथमिति चेत् ? यथा "दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः" इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्युनुक्त-सिद्धमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते साख्यसदाशिवमतानुसारिण स्तेषां मते य-थाशुद्ध निश्चय-नयेन कर्ता न भवति, क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि,ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धाना-मिव कर्मबधाभावः। कर्म बंधाभावे संसाराभावः। संसारा-भावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति। स च प्रत्यक्ष विरोधः—ससारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वात्।"

(अर्थात्) "दूसरी बात यह है कि शुद्ध नय से जीव के अकर्त्तापना, अभोक्तापना और क्रोधादिक से भिन्नपना है—इस प्रकार व्याख्यान करने पर दूसरे पक्ष में व्यवहार से कर्त्तापना, भोक्तापना और क्रोधादिक से अभिन्नपना भी जीव में पाया ही जाता है। किस कारण से? यदि ऐसा पूछो, तो उत्तर यह है कि जैसे देवदत्त दक्षिण नेत्र (दाहिनी आख) से देखता है, ऐसा कथन करने पर वाम नेत्र (बायी आख) से नही देखता, यह बात बिना कहे सिद्ध हो जाती है।" अर्थात् निश्चय-व्यवहार दोनो नय दाये-बाये नेत्र के समान है।

आगे चलकर वे कहते है—"जो इस प्रकार परस्पर सापेक्ष नय विभाग को नही मानते, ऐसे जो सांख्य और सदाशिव मतानुयायी है उनके मत में जैसे शुद्ध निश्चय नय से जीव कर्त्ता नही है और क्रोधादिक से भिन्न है, उसी प्रकार व्यवहार नय से भी मानना पड़ेगा। इसमे संसारी जीव के क्रोधादि रूप परिणमन करने के अभाव में सिद्ध भगवान् के समान कर्म बधन का अभाव मानना पड़ेगा और कर्म बध के अभाव में जीव को सर्वदा मुक्तपने का प्रसग आवेगा, जबकि 'यह संसारी जीव सर्वदा मुक्त है' इस कथन और मान्यता में प्रत्यक्ष से ही विरोध है; क्योंकि इस जीव का संसार प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है।"

आचार्यश्री के उक्त कथन से—दोनों नयो की परस्पर-विरोधी दृष्टिया होने पर भी वे सापेक्ष होकर दोनो ही सत्य है और निरपेक्ष दोनों ही प्रमाण विरुद्ध होने से मिथ्या है—यह स्पष्ट हो जाता है।

इसके सिवाय, व्यवहार नय के अन्तर्गत उपचरित नय भी आता है, जिसमें एक वस्तु के गुण धर्मो को कारणवश दूसरी वस्तु में आरोपित कर कथन किया जाता है, जैसे घी रखे रहने के कारण मिट्टी के घडे को घी का घड़ा कहते है अथवा पौद्गलिक देह में जीव के रहने से देह को भी जीव कहकर व्यवहार किया जाता है। यह नय भी म्लेच्छों को म्लेच्छ भाषा में ज्ञान कराने के समान, अज्ञानियो को जिस प्रचलित व्यवहार व भाषा मे तत्त्व समझाने की आवश्यकता है उसी के सहारे तत्त्व बोध कराने में सहायक होने से हितकारी माना जाकर शास्त्रों व प्रवचनो मे उपयोग में लाया जाता है। वक्ता का अभिप्राय घी का घडा कहने पर भी मिट्टी के घड़े को घी का बना हुआ घडा मानकर नही चलता, प्रत्युत श्रोता उस घडे को घी के घड़े के नाम से जानता है अतः उसको उसकी समझ के अनुसार समझाने का ही रहता है, अतः आचार्यों ने भी विभिन्न प्रकार के जीवों को उनकी समझ व योग्यतानुसार वस्तु का स्वरूप समझाने के लिए विभिन्न नयो का उपयोग किया है, जो जीवों के हित में है।

इस प्रकार, नयो द्वारा वस्तु का ज्ञान विभिन्न दृष्टियों से पात्रानुसार कराया जाता है, अतः नयो का स्वरूप भी यथार्थ रूप मे जानना नितांत आवश्यक है, क्योंकि आचार्यों ने जो कुछ भी वस्तु के सम्बन्ध में कथन किया है वह किसी नय की मुख्य दृष्टि से ही किया है और वह अन्य नय सापेक्ष होकर वस्तु का अंश रूप मे ज्ञान करानेवाला है, अतः सत्य है।

समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथों मे शुद्ध नय की अभेद-प्रधान सामान्य दृष्टि की प्रधानता से आत्मादि तत्त्वो के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है तथा गोमटसारादि ग्रथो मे भेद-नय प्रधान व्यवहार दृष्टि से गुणस्थानादि गत जीव के ही भावो तथा गति इन्द्रियादि अवस्थाओं के कथन द्वारा तत्त्व ज्ञान कराने का परमपूज्य आचार्यों ने प्रयास कर, तत्त्व जिज्ञासुओ की पात्रानुसार ज्ञानपिपासा को शात करके महान उपकार किया है जिससे हमें, नयो के पक्षव्यामोह का परित्याग कर सम्यक्ज्ञान की आराधना द्वारा वीतराग विज्ञान की ओर अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है।

नयो के पक्षपात-वश उनसे राग-द्वेष करना अथवा तत्त्वचर्चा में उसका प्रयोग कर विसंवाद करना और एक दूसरे को मिथ्यादृष्टि कहकर संबोधन करना या परस्पर शत्रुतापूर्ण व्यवहार करना-कराना न तो आवश्यक और उचित है और न इससे अनादिकालीन मोह का विनाश होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्तिपूर्वक तत्त्व ज्ञान की उपलब्धि व चारित्र की पवित्रता ही सभव है। अतः विद्वानों और प्रवचनकारों का यह परम कर्तव्य है कि वे अज्ञता वश अपने किसी प्रिय नय के सर्वथा पक्ष-व्यामोह के कुचक्र में फसकर अनेकांतात्मक जैन शासन का गला घोट एकातमिथ्यात्व के प्रचार-प्रसार से दूर रहे तथा समाज को नगर-नगर और गांव-गांव में इसी आधार पर फूट डालकर दो भागो में

बांटने और लड़ाने का प्रयत्न न करें। भगवान् महावीर के अनुगामी होने के कारण उनपर जो अनेकांतपरक सत्य सिद्धांत की ज्तोति पूर्वाचार्य परंपरा से अक्षुण्ण रूप में, आगम व अध्यात्मशास्त्रों में जगमगा रही है उसे अपनी अज्ञतावश ढंकने या बुझाने का दुरभिमान, चालाकी या नासमझी से प्रयत्न करना और अपने दूषित अभिप्रायों को उस पर लादने का प्रयत्न करना सर्वथा अनुचित है—इस पर ध्यान दें।

ग्रंथ में प्रतिपादित विषय

यह ग्रंथ तीन अधिकारों में विभाजित है। प्रथम जीवाजीवाधिकार में केवल जीवद्रव्य का विभिन्न दृष्टियों से अवान्तर नव अधिकारो द्वारा प्रतिपादन किया गया है तथा अजीव द्रव्य एवं उसके भेदों का लक्षणात्मक वर्णन करते हुए पचास्तिकाय में सम्मिलित द्रव्यो का सकारण निरूपण भी है। दूसरे तत्त्वनिरूपणाधिकार में आस्रवादि तत्त्वो का भाव तथा द्रव्य स्वरूप उनके भेदों का सक्षेप में दिग्दर्शन कराते हुए पुण्य और पाप का भी वर्णन किया गया है। तीसरे अधिकार में निश्चय और व्यवहार मोक्ष मार्ग का स्वरूप दर्शाकर सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उभय नयो से प्रतिपादन एव ध्यान की उपयोगिता, स्वरूप व भेदों को स्पष्ट करते हुए अंत मे तपश्रुतव्रत सहित (व्यवहार चरित्र का भली-भाति परिपालन करनेवाला) आत्मा ही निश्चय (ध्यान स्वरूप वीतराग) चरित्र का पात्र हो सकता है, इसलिए तपश्रुतव्रत रूप व्यवहार धर्म के परिपालन की अनिवार्य रूप मे आवश्यकता एवं सार्थकता दिखाकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उनमे सदा ही लीन रहने की प्रेरणा की गई है।

इस प्रकार, व्यवहार मोक्ष मार्ग को निश्चय मोक्ष मार्ग का साधक दर्शाते हुए ग्रथकर्त्ता ने दोनों नयो से उन्हें परस्पर सापेक्ष मैत्री-भाव द्वारा जीवादि द्रव्यों एवं तत्त्वों का निरूपण किया है तथा जीवादिक जिन प्रणीत तत्त्वो की यथार्थ श्रद्धा एवम् सशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित सम्यक्ज्ञान की आराधना करते हुए अशुभ क्रियाओ से निवृत्ति एवम् शुभ (व्रत समिति-गुप्ति) क्रियाओं में प्रवृत्ति-रूप व्यवहार-चरित्र का पालन करते हुए आत्म-स्वरूप में स्थिरतामयी वीतराग-निश्चय-चरित्र की प्राप्ति का अभ्यास कर आत्मस्वरूप में लीन होने को मोक्ष मार्ग दर्शाया है। अतः इसे यदि जिनवाणी का संक्षिप्त-गागर-में-सागर जैसा सार कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

ग्रंथ की बृहद्द्रव्य संग्रह टीका व अन्य टीकाएं

इस ग्रंथ की श्रीमद्ब्रह्मदेवकृत संस्कृत में एक विस्तृत अध्यात्मपरक प्रथम टीका है जो श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल अगास द्वारा प्रकाशित है। यह संस्था सुविख्यात अध्यात्म मर्मज्ञ श्रीमद्रायचन्द्रजी द्वारा संस्थापित है। ग्रंथ में प्रतिपादित विषय एवम् उसकी संस्कृत टीका के सम्बन्ध में उसकी प्रस्तावना में हिन्दी में अनुवादकर्त्ता जयपुर निवासी सुप्रसिद्ध स्व. विद्वान् श्री पं. जवाहरलालजी शास्त्री ने अब से करीब ६५ वर्ष पूर्व वीर नि. २४४२ में निम्न वाक्य लिखे हैं :

"इसमें ग्रथ के नामानुसार केवल जीवाजीवादि षट्द्रव्यो का ही वर्णन नही है; किंतु षट् द्रव्यो के परिज्ञान को आत्मप्राप्ति का साधन दिखलाया गया है। इसीलिए यह टीका अध्यात्म विषय का एक अच्छा ग्रथ है। प्राय: निश्चय नय की मुख्यता को लिए हुए कथन होने से अध्यात्म विषय सबसे कठिन विषय है। अल्पज्ञो की तो शक्ति ही नही है कि वे इसके मर्म को समझ सकें और जो बुद्धिमान् हैं वे भी अनेकान्तमय मार्ग के मर्म को न जानने से पद २ पर प्रमान्वित हो जाते हैं। यही नही, किन्तु कितने ही तो जैसे भाषा के प्रसिद्ध कवि और अध्यात्मरस के रसिक पं. बनारसीदासजी केवल समयसार के पढ़ने से—'करणी को रस मिट गयो भयो न आतम स्वाद। हुई बनारसि की दशा जेम ऊंट को पाद।" इस दोहे के अनुसार एक बार व्यवहार चरित्र को जलांजलि दे चुके थे। उसी प्रकार, अन्य जन भी एकान्त निश्चय मार्ग का अवलम्बन कर अनेकान्तमय जिन धर्म के शिखर से पतन को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु निश्चय के साथ व्यवहार का कथन भी विद्यमान होने से इस ग्रंथ में सोने में सुहागा की कहावत चरितार्थ होती है और इसके पढ़ने से भ्रम उत्पन्न होने के बदले अनेक भ्रम भाग जाते हैं।

अतः अध्यात्म महल में चढ़ने के लिए इस टीका को प्रथम सोपान कहा जावे तो अतिशयोक्ति न होगी।"

जैसे कि ग्रंथ की विस्तृत टीका के सम्बन्ध में उक्त विद्वान् अनुवादक महोदय ने अपने विचार व्यक्त किये है, अध्यात्म का अभ्यास करने की रुचि रखनेवाले पाठको को यह ग्रंथ व उसकी टीका कितनी उपयोगी है, यह सहज ही विदित हो जाता है।

द्रव्यसंग्रह की हिंदी टीकाओं में एक महत्त्वपूर्ण टीका (जो इसके भावानुवाद को सम्पन्न कर लेने के पश्चात् मुझे देखने में आई है) द्रव्य-संग्रह भाषावचनिका के नाम से तथा हिंदी में ही चौपाई छंदो में भाषा-पद्यानुवाद, जयपुर निवासी विद्वद्वर पं. जयचन्द्रजी छावडा ने विक्रम सं. १८६३ में लिखी थी जो वाराणसी से वर्णी ग्रंथमाला से प्रकाशित है। इन्ही ने समयसार परमात्मप्रकाशादि ग्रंथो की सर्वप्रथम हिंदी में टीकाएं तथा मौलिक रचनाएं भी सम्पन्न की है, जिनसे समाज भलीभांति परिचित है। इसके सिवाय हिंदी में विद्यार्थियों को विद्यालयों की कक्षाओं में अध्यापनार्थ अन्य अनेक विद्वानो द्वारा संक्षिप्त टीकाएं भी हुई है, जिनसे समाज को बडा लाभ हुआ है। अभी-अभी १०५ श्री आर्यिका विदुषीरत्न माता ज्ञानमती जी का हिन्दी में ही नवीन पद्यानुवाद भी सनावद से प्राप्त हुआ है जो सरल भाषा में ग्रंथ के भाव को समझने में सर्वसाधारण को उपयोगी है।

द्रव्य-संग्रह में तत्त्वार्थ की स्याद्वाद-परक गरिमापूर्ण संक्षिप्त विवेचना से आकृष्ट होकर स्वांतःसुखाय एक नवीन पद्यानुवाद करने की अंतरंग से मुझे भी जो प्रेरणा मिली थी उसी के फलस्वरूप एक पद्यानुवाद समाज की सेवा में मैंने भी प्रस्तुत किया है और वह प्रकाशित हुआ है। इसमें राष्ट्र-भाषा के माध्यम से ग्रंथ के भाव को स्पष्ट करते हुए उसे गेय और नित्यपाठ करने-कराने के उपयुक्त बनाने का भरसक प्रयास किया गया है; इस प्रयास में सफलता कहां तक मिली, इसका निर्णय सहृदय विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे। पद्यानुवाद के साथ ही मूल गाथाओं का भाव स्पष्ट करने के उद्देश्य से सरल भाषा में भावार्थ भी दिया गया है। जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्म में प्रवेश करने के उत्सुक धर्मबंधुओं की प्राथमिक ज्ञान-पिपासा को शांत करने में इससे निश्चय-व्यवहार नयो की समन्वित दृष्टि से अध्ययन करने पर यथेष्ट सहायता मिलेगी तथा अनेक भ्रांतियां भी दूर हो सकेंगी।

५/१, तम्बोली बाखल,
इन्दौर (मध्य प्रदेश)

महावीर संवत् : भारत का सर्वप्राचीन संवत्

भारत का सर्वप्राचीन संवत् महावीर संवत् है। इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए सुप्राचीन विपुल साहित्य के अतिरिक्त शिलालेख भी मौजूद है। वीर निर्वाण संवत् ८४ (ई० पू० ४४३) का यह शिलालेख अजमेर (राजस्थान) के पास बडली गांव में मिला था। वीर निर्वाण सूचक लेखों में यह सर्वप्रथम लेख है। राजस्थानांतर्गत अजमेर संग्रहालय में यह लेख संप्रति मौजूद है, कहना कठिन है। कुछ भी हो, महावीरस्वामी के मोक्ष जाने के थोड़े ही समय के बाद का यह लेख महावीर संवत को सर्वप्राचीन सिद्ध करने के लिए पर्याप्त सुदृढ प्रमाण है।

"जैन साहित्य संशोधक", खण्ड १, पृष्ठ २११ में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० काशीप्रसाद जायसवाल लिखते हैं कि "जैनो में करीब २५०० वर्षों से प्रचलित संवत्सर गणना की रीति हिन्दुओं में सर्वोत्तम है। इससे प्राचीन काल से ऐतिहासिक पद्धति की वर्ष गणना हमारे देश में प्रचार में थी, यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है। यह पद्धति अन्यत्र नष्ट होकर सिर्फ जैनो में ही रही है। जैन वर्ष गणना के आधार पर बुद्ध और महावीर के काल के बाद की ऐतिहासिक घटनाओं को मैंने कालक्रम से ठीक किया है। वह सुज्ञात गणना से बिल्कुल ठीक बैठता है। अनेक ऐतिहासिक विचारों का संकेत हमें जैनो के ऐतिहासिक लेख एवं पट्टावलियो से भी मिलता है।"

भगवान महावीर का विचार तथा कृतित्व : समस्त विश्व के लिए अनुपम धरोहर

□ डा० रामकुमार वर्मा

जिस समय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने मुझसे विशेष आग्रह किया था कि मैं हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास लिखूं तो मैंने इस संदर्भ मे विशेष अध्ययन करना आरम्भ कर दिया था। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का विश्लेषण करते समय मुझे उत्तर अपभ्रंश की शैली मे हेमचन्द जैन व्याकरणाचार्य के दोहे तथा प्रबन्ध लेखक स्वयंभू और पुष्पदन्त की रचनाओं को पढकर, उनके साहित्यिक उत्कर्ष से प्रसन्नता मिश्रित कुतूहल भी हुआ था। इन चरित काव्यो को पढ़ने पर जीवन के यथाथ के साथ, उसके उदात्त स्वरूप का जो निर्वाह किया गया है, वह वास्तव मे साहित्यिक शैली का एक उत्कृष्ट रूप ज्ञात हुआ। उसके साथ ही साथ जैन साहित्य के अन्तर्गत धर्म और दर्शन की जो मीमासा प्रस्तुत की गई, वह इतनी विश्वसनीय और व्यावहारिक ज्ञात हुई कि मैने जैन साहित्य के प्रचुर ग्रन्थो की खोज की और मुझे हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सामग्री यथेष्ट रूप मे प्राप्त हो गयी। अपने आलोचनात्मक इतिहास मे जैन धम और दशन की व्याख्या करते हुए, मैंने यह अनुभव किया कि हिन्दी साहित्य के विकास मे इन ग्रन्थो का विशेष महत्त्व है। श्रमणाचार और श्रावकाचार के माध्यम से उन्होने जीवन क आध्यात्मिक और लौकिक परिवेशो का विभाजन करत हुए भी, उनम एक सामजस्य स्थापित कर दिया। इस सन्दर्भ मे एक जिज्ञासा मेरे हृदय मे उत्पन्न हुई कि महात्मा बुद्ध वैष्णव धर्म के अवतारो मे स्वीकृत होकर भी, धार्मिक दृष्टिकोण से इस देश से निर्वासित क्यो हो गये, जबकि जैनधर्म जो बौद्धधर्म के समानान्तर ही चलता रहा, आज देश की जनता का एक अविभाज्य अग बना हुआ है। इसका समाधान मुझे जैनधर्म के अनेकान्त या स्याद्वाद म मिला। जैनधर्म ने सत्य को विविध रूपा मे देखा है, इसलिए उसने प्रत्येक परिस्थिति में वस्तुस्थिति की ही वास्तविकता के रहस्य को पहचाना है। इसलिए उसने विरोध की अपेक्षा सहयोग को जीवन का तथ्य समझा है।

जैनधर्म के इस सर्वव्यापी महत्व ने ही मुझे चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करने के लिए प्रेरित किया। उन्होने जीवन मे उपलब्ध सभी प्रकार के इन्द्रिय जनित सुखो का परित्याग कर सबोधि की प्राप्ति के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चातुर्याम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह) मे महावीर ने पचयाम (ब्रह्मचर्य) जोडकर जीवन को जिस सुदृढ पथ पर प्रतिष्ठित किया, वह संभवत: उनके पूर्ववर्ती किसी तीर्थंकर द्वारा सम्भव नही हुआ। वर्धमान महावीर वैशाली के अधिपति सिद्धार्थ नरेश के राजकुमार थे। शक्ति, सौन्दर्य और साहस मे अप्रतिम, किन्तु शैशव से ही परिवार मे पार्श्वनाथ की उपासना होने के कारण वे ऋजुता सहित वीतरागी थे। महात्मा बुद्ध से मैं उन्हें इस बात मे श्रेष्ठ मानता हू क्योंकि बुद्ध के मन मे वैराग्य भावना तब द्रवित हुई, जब उन्होने रोगी, वृद्ध और मृतक को देखा। तब उन्होने जीवन की नश्वरता का अनुभव किया, किन्तु महावीर वर्धमान के लिए इन उपादानो की कोई आवश्कता नही थी। इसीलिए मैंने उनके वैराग्य को उनका ऋजुसस्कार कहा है, अर्थात् यह सस्कार उन पर बाहर से नही आया किन्तु वह जन्मजात था। इस दृष्टि से मैं उन्हें महात्मा बुद्ध से महानतर मानता हूं।

"जय वर्धमान" नाटक की रचना करते समय उनकी वैराग्य भावना का वास्तविक रूप प्रखर करने के लिए मैंने एक वस्तुवादी रूपरेखा प्रस्तुत की है। नाटक मे सुप्रिया, रभा, तिलोत्तमा जैसी सुन्दर अप्सराओं को (सतो, रजो

(शेष पृ० ६४ पर)

जैनाचार्य और आयुर्वेद

[जैनाचार्यों ने भी अन्य आचार्यों की भांति आयुर्वेद साहित्य के सृजन मे अपना अपूर्व योगदान किया है। आवश्यकता इस बात की है कि अनुसन्धान द्वारा उस साहित्य को प्रकाश मे लाकर आयुर्वेद-साहित्य की वृद्धि की जाए और आयुर्वेद की दृष्टि से उसका समुचित मूल्यांकन किया जाए।]

□ श्री राजकुमार जैन

संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि मे जैनाचार्यों ने अपना जो महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, वह सुविदित है। संस्कृत-साहित्य का ऐसा कोई विषय या क्षेत्र नही बचा है जिस पर जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी न चलायी हो। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनाचार्य केवल एक विषय के अधिकारी नही थे, अपितु वे प्रत्येक विषय मे निष्णात थे; अतः उनके विषय मे यह कहना सम्भव नही है कि उनका अधिकृत विषय कौन-सा है? जैनाचार्यों ने जिस प्रकार काव्य, अलंकार, कोश, छन्द, न्याय, दर्शन व धर्मशास्त्रों का निर्माण किया था, उसी प्रकार ज्योतिष और वैद्यक विषय भी उनकी लेखनी से अछूते नही रहे। अनेक उपलब्ध प्रमाणो से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि जैनाचार्यों ने प्रचुर मात्रा मे स्वतन्त्र रूप से वैद्यक ग्रन्थो का निर्माण कर आयुर्वेद साहित्य की वृद्धि मे अपना अभूतपूर्व योग दिया है। इस सम्बन्ध मे एक लम्बी सूची प्राप्त हुई है, जिससे जैनाचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक सम्बन्धी कृतियो का सँकेत मिलता है। इनमे से कुछ कृतियाँ मूलरूप से संस्कृत भाषा मे लिपिबद्ध हैं और कुछ हिन्दी मे पद्य रूप मे।

जिन जैनाचार्यों ने धर्म-दर्शन-न्याय-काव्य-अलंकार आदि विषयो को अधिकृत कर विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया है, उन्ही आचार्यों ने वैद्यक शास्त्र का निर्माण कर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है। पूज्यपाद स्वामी, स्वामी समन्तभद्र, आचार्य जिनसेन, गुरु वीरसेन, गुणसागर श्री गुणभद्र, महर्षि सोमदेव, सिद्धवर्णी रत्नाकर तथा महापण्डित आशाधर आदि जैनाचार्यों की विभिन्न कृतियों पर जब हम दृष्टिपात करते है तब यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि किस प्रकार उन्होंने अनेक विषयों पर अपनी अधिकारपूर्ण लेखनी चलाकर अपनी अद्भुत विषय-प्रवणता और विलक्षण बुद्धि-वैभव का परिचय दिया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उन्हे उन सभी विषयों में प्रौढ प्रभुत्व प्राप्त था। उनका पाण्डित्य सर्वपदगत व्यापी था और उनका ज्ञान-रवि अपनी प्रखर रश्मियो से सम्पूर्ण साहित्य-जगत् को आलोकित कर रहा था।

आयुर्वेद-साहित्य के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गयी सेवा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी अन्य साहित्य के प्रति; किन्तु दुःख इस बात का है कि जैनाचार्यों ने जितना वैद्यक साहित्य निर्मित किया है वह अभी तक प्रकाशित नहीं किया जा सका है। यही कारण है कि वर्तमान मे उनके द्वारा लिखित अनेक वैद्यक ग्रन्थ या तो लुप्त हो गये हैं अथवा खण्डित रूप मे होने से अपूर्ण है। काल-कवलित हुए अनेक वैद्यक ग्रन्थो का उल्लेख विभिन्न आचार्यों की वर्तमान में उपलब्ध अन्यान्य कृतियों मे मिलता है। विभिन्न जैन भण्डारों या मन्दिरो मे खोजने पर अनेक वैद्यक ग्रन्थों के प्राप्त होने की सम्भावना है; अतः विद्वानों द्वारा इस दिशा मे प्रयत्न किया जाना अपेक्षित है। सम्भव है कि इन वैद्यक ग्रन्थों के प्रकाश में आने से आयुर्वेद के उन महत्त्व-पूर्ण तथ्यों और सिद्धान्तो का प्रकाशन हो सके जो आयुर्वेद के प्रचुर साहित्य के काल कवलित हो जाने से विलुप्त हो गये है। जैनाचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक ग्रन्थो के प्रकाशन से आयुर्वेद के विलुप्त साहित्य और इतिहास पर भी प्रकाश पड़ने की पूरी सम्भावना है।

वर्तमान मे केवल एक ही ऐसा वैद्यक ग्रन्थ उपलब्ध है

जो जैनाचार्य द्वारा लिखित है और प्रकाशित किया गया है। श्री उग्रादित्याचार्य-प्रणीत उक्त वैद्यक ग्रन्थ का नाम 'कल्याणकारक' है, जिसका हिन्दी अनुवाद और सम्पादन प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री (सोलापुर) ने किया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९४० मे किया गया था। सेठ गोविन्दजी रावजी दोशी (सोलापुर) ने इसे प्रकाशित करवाया था। स्व० रावजी सखाराम दोशी की उत्कट अभिलाषा थी कि जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत वैद्यक शास्त्र के प्रकाशन के सम्बन्ध में कुछ कार्य होना चाहिये। यही कारण है कि 'कल्याणकारक' ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए उन्होने अथक परिश्रम किया। जब उन्हे यह मालूम हुआ कि श्री उग्रादित्याचार्य-प्रणीत एक समग्र जैन वैद्यक ग्रन्थ मैसूर गवर्नमेंट लायब्रेरी मे मौजूद है, तो बिना किसी प्रमाद और विलम्ब के तत्काल उन्होने उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने की व्यवस्था की। प्रतिलिपि के पूर्ण हो जाने पर उन्होने प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री से उसके संपादन एव अनुवाद का आग्रह किया। पहले तो पण्डित जी को सकोच हुआ कि अनभ्यस्त विषय में कैसे हाथ डाला जाए (क्योकि शास्त्रीजी धर्म-न्याय-दर्शन के तो प्रकाण्ड विद्वान है, किन्तु आयुर्वेद विषय में उनकी अपेक्षित गति नही है); किन्तु बाद में श्री दोशी के विशेष आग्रह के कारण और जैन वैद्यों का इस ओर उपेक्षा-भाव देखकर उन्होने यह गुरुतर भार अपने कन्धों पर लेना स्वीकार कर लिया। वैद्यक विषय मे यद्यपि उनकी गति नहीं थी, तथापि 'कल्याणकारक' ग्रन्थ के अनुवाद और सपादन की प्रेरणा ने उन्हें इस कार्य हेतु उत्साहित किया, जिससे उन्होंने 'चरक सहिता' आदि आयुर्वेद क ग्रन्थो का अध्ययन किया और वैद्यक सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया। इससे उनका कार्य सरल हो गया और उनके लिए 'कल्याणकारक' की दुरूहता भी समाप्त हो गयी। उसके बाद उन्होंने बड़े उत्साहपूर्वक लगन के साथ इस कार्य को सम्पन्न किया।

इसमे कोई सन्देह नही है कि जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रन्थो की सख्या प्रचुर है, किन्तु उन ग्रन्थो की भी वही स्थिति है जो जैनाचार्यों द्वारा लिखित ज्योतिष के ग्रन्थो की है। जैन समाज ने तथा अन्यान्य जैन सस्थाओ ने जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत धर्म-दर्शन-साहित्य-काव्य-अलकार आदि के ग्रन्थों के प्रकाशन की तो व्यवस्था की है, उसमे रुचि भी दिखायी है और उसके लिए पर्याप्त राशि भी व्यय की है, किन्तु आयुर्वेद और ज्योतिष के ग्रन्थों के प्रति उसने कोई ध्यान नही दिया। यही कारण है कि इस साहित्य की प्रचुरता होते हुए भी यह अभी अन्धकारावृत्त है। अब तो स्थिति यहाँ तक हो गयी है कि जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत जिन ग्रन्थो की रचना का पता चलता है उन ग्रन्थों का अस्तित्व ही हमारे सामने नही है। अनेक स्थानों पर स्वामी समन्तभद्र के वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है। 'श्रीपूज्यपादोदित' आदि कथनो को उद्धृत करते हुए अनेक जैनेतर विद्वान् वैद्यक मे अपना योगक्षेम चलाते हुए देखे गये है; किन्तु अत्यधिक प्रयत्न किये जाने पर भी पूज्यपाद विरचित ग्रन्थ प्राप्त नही हो सका। इसी प्रकार और भी अनेक ग्रन्थों का प्रकरणान्तर से उल्लेख तो मिलता है, किन्तु ढूढ़ने पर उनकी उपलब्धि नही होती है।

वर्तमान मे उपलब्ध एव प्रकाशित वैद्यक ग्रन्थ 'कल्याणकारक, को देखने से ज्ञात होता है कि जैनेतर आयुर्वेद के ग्रन्थो की अपेक्षा जैन वैद्यक ग्रन्थो में कुछ भिन्नता और विशेषता अवश्य है। एक मौलिक विशेषता तो यह है कि जैन मनीषियो, विद्वानो और विचारकों ने जिस प्रकार अपने समग्र वाङ्मय और आचरण में 'अहिंसा परमोधर्मः' सिद्धान्त का परिपालन किया है, उसी प्रकार वैद्यक ग्रन्थों मे भी इस सिद्धान्त का निर्वाह करते हुए उसे अक्षुण्ण बनाये रखा है। यही कारण है कि जैन वैद्यक ग्रन्थ 'कल्याणकारक, मे कही भी मद्य, मास और मधु का प्रयोग किसी भी औषधि मे अनुपान के रूप मे अथवा औषधि के रूप मे निर्दिष्ट नहीं किया गया है। केवल उसी औषधि और आहार-विहार का निर्देश है जो हिंसा से रहित सात्विक गुणों से युक्त है; क्योंकि एक प्राणी की हिंसा से दूसरे प्राणी की रक्षा जैनधर्म को अभीष्ट नही है। उसके अनुसार तो प्राणि-मात्र की रक्षा उसका परम उद्देश्य है।

'कल्याणकारक' मे शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा और विकारो से शरीर की मुक्ति हेतु औषधि-सेवन तथा अन्य उपायो का पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है, किन्तु इसका मूल उद्देश्य यह है कि स्वस्थ शरीर भौतिक रूप से

हृष्ट-पुष्ट हो कर केवल इन्द्रियजन्य विषय-भोगों में ही अनुरक्त न रहे, अपितु वह आत्मकल्याण हेतु प्रयत्न करे। जैनाचार्यों की दृष्टि में शारीरिक स्वास्थ्य आत्म-स्वास्थ्य के लिए है, इन्द्रियजन्य विषय-भोगों के लिए नहीं। इस तथ्य का प्रतिपादन जैनाचार्यों ने स्थान-स्थान पर किया है। 'कल्याणकारक' में सर्वत्र ही औषधि के लिए केवल वनस्पति, खनिज, क्षार, रस, रत्न, मुक्ता, प्रवाल आदि द्रव्यों का प्रयोग वर्णित है। इस प्रकार हिंसाजनक द्रव्यों के सेवन का निषेध करते हुए अहिंसा के उपादान-भूत द्रव्यों के सेवन से ही शारीरिक स्वास्थ्य-रक्षा का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार, शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आचरण की शुद्धता पर भी जैन मनीषियों ने विशेष जोर दिया है। आचरण की शुद्धता शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए तो उपयोगी है ही, उससे आत्मकल्याण का मार्ग भी प्रशस्त होता है। इस प्रकार, केवल इहलौकिक सुख की प्राप्ति हेतु ही शरीर को स्वस्थ, निरोग व हृष्ट-पुष्ट बनाना जैनाचार्यों को अभीष्ट नहीं था, अपितु इसलिए था कि स्वस्थ शरीर के माध्यम से वह आत्मानुचिन्तन और आत्मपरिशीलन करता हुआ आत्मसाधन कर सके तथा संसार के समस्त बन्धनों को काट कर अपवर्ग को प्राप्त कर जीवन की सार्थकता को प्रतिपादित कर सके।

जैन वाङ्मय मे अन्य शास्त्रों या विषयों की भाँति आयुर्वेदशास्त्र या वैद्यक विषय की प्रामाणिकता भी प्रतिपादित है। जैनागम मे वैद्यक विषय को भी आगम के अंग के रूप मे स्वीकार किया गया है। जैनागम में केवल उसी विषय, आगम या शास्त्र की प्रामाणिकता है जो सर्वज्ञ प्रतिपादित है। सर्वज्ञ कथन के अतिरिक्त अन्य किसी विषय या स्वरुचिविरचितत्व को कोई महत्त्व या स्थान नहीं है। सर्वज्ञ परमेष्ठी के मुख से जो दिव्यध्वनि निकलती है, उसे श्रुतज्ञान के धारक गणधर परमेष्ठी ग्रहण करते हैं। गणधर-गृहीत वह दिव्य-ध्वनि (जो ज्ञानरूप होती है) उनके द्वारा बारह भेदों मे विभक्त की गयी, जिसे आचारांग आदि के रूप मे उन्होंने निरूपित किया। गणधर द्वारा निरूपित बारह भेदो को 'द्वादशांग' की संज्ञा दी गयी है। इन द्वादशांगों मे प्रथम आचारांग है और बारहवाँ दृष्टिवाद नाम का अंग है। उस बारहवें दृष्टिवादांग के पाँच भेद है। उन पाँच भेदो में से एक भेद पूर्व (पूर्वगत) हैं। इस 'पूर्व' वेद के भी पुनः चौदह भेद है। इन चौदह भेदो मे (पूर्व) 'प्राणावाय' नाम का एक भेद है। इसी प्राणावाय नामक अंग में अष्टांग आयुर्वेद का कथन किया गया है। जैनाचार्यों के अनुसार आयुर्वेद या वैद्यक शास्त्र का यही मूल है। इसी के अनुसार अथवा इसी के आधार पर जैनाचार्यों ने वैद्यक शास्त्र का निर्माण अथवा आयुर्वेद के विषय का प्रतिपादन किया है। जैनागम के अन्तर्गत प्रतिपादित प्राणवायपूर्व का निम्न लक्षण बतलाया गया है— 'कायचिकित्साद्यष्टांग-आयुर्वेदः भूतकर्मजांगुलिप्रक्रमः प्राणपानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्" अर्थात् जिस शास्त्र मे काय, तद्‌गत दोष तथा चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया हो, पृथ्वी आदि महाभूतों की क्रिया, विषैले जानवर और उनकी चिकित्सा आदि तथा प्राणापान का विभाग जिसमे किया गया हो उसे प्राणावाय-पूर्व शास्त्र कहते है।

द्वादशांग के अन्तर्गत निरूपित प्राणावायपूर्व नामक अंग मूलतः अर्धमागधी भाषामे लिपिबद्ध है। इस प्राणावाय-पूर्व के आधार पर ही अन्यान्य जैनाचार्यों ने वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। श्री उग्रादित्याचार्य ने भी प्राणावाय-पूर्व के आधार पर 'कल्याणकारक' नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है। इस तथ्य का उल्लेख आचार्यश्री ने स्थान-स्थान पर किया है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है—

सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषापरिशेषोज्ज्वल-
प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः।
उग्रादित्यगुरुर्गुरुगुर्णैरुद्भासिसौख्यास्पदं
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः॥

—कल्याणकारक, अध्याय २५, श्लोक ५४

अर्थात् सर्व अर्थ को प्रतिपादित करने वाली सर्वार्ध-मागधी भाषा मे जो अत्यन्त सुन्दर प्राणावाय नामक महागम (महाशास्त्र) अंग है उससे यथावत् सक्षेप रूप से सग्रह कर उग्रादित्य गुरु ने उत्तम गुणो से युक्त सुख के स्थानभूत इस शास्त्र की सस्कृत भाषा मे रचना की। इन दोनो (प्राणावाय अंग और कल्याणकारक) मे यही अन्तर है।

इस प्रकार जैनागम मे आयुर्वेद या वैद्यक शास्त्र की प्रामाणिकता प्रतिपादित है। आयुर्वेद, जिसे जैनागम में

(शेष पृ० ६४ पर)

बुद्ध और महावीर

□ डा० देवसहाय त्रिवेद

अभी तक लोग मानते रहे है कि नातपुत्र-ज्ञातृपुत्र भगवान् बुद्ध के समकालिक थे क्योंकि सामान्यतः सभी मान लेते हैं कि ज्ञातृपुत्र ही महावीर वर्द्धमान है तथा निगंठ, निर्ग्रंथ (बिना बंधन के) बौद्ध संघ की स्थापना के पूर्व भी एक महान् सम्प्रदाय के रूप में विद्यमान थे। पाश्चात्य विद्वानों ने तो प्रारम्भ में भगवान् बुद्ध व महावीर को एक ही समझ लिया था। किन्तु अब यह शका प्रबल होती जा रही है कि क्या ये दोनों महापुरुष बुद्ध व महावीर समकालिक थे ?

निगंठ—समगामसुत्त के अनुसार जब भगवान् बुद्ध शाक्य प्रदेश के सामगाम मे डेरा डाले थे, निगठ नाथपुत्र की[1] मृत्यु का समाचार एक शिष्य ने आनन्द को सुनाया। प्रचलित माण्य परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध व महावीर की निर्वाण तिथि हैं—५२७ खृ० पू० तथा ५४३ खृ० पू० (सिंहल)। अतः स्वयं बुद्ध गौतम भगवान् ही तीर्थंकर महावीर निर्वाण के १६ वर्ष पूर्व ही (५४३–५२७) चल बसे थे। मज्झिमनिकाय का उपालिसुत्त कहता है कि निगंठ नाथपुत्र भगवान् बुद्ध की प्रशसा न सह सके अतः उनके मुख से लाल रक्त टपकने लगा। अतः यह मानना होगा कि निगंठ नाथपुत्र का निधन बुद्ध निर्वाण के बहुत पहले ही हो गया था।

चातुर्याम –यह शंकास्पद है कि बुद्ध-महावीर प्रायः समकालिक थे जैसा कि लोग अभी तक मानते आ रहे है। किन्तु इतना निश्चित है कि निगठ नाथपुत्र का निधन बुद्ध निर्वाण से पूर्व हुआ। स्यात् यह निगंठ नाथपुत्र महावीर का कोई पूर्ववर्ती जैन अर्हत् था। दीघनिकाय मे निगठ नाथपुत्र के चातुर्याम सवर सवृत्तों का उल्लेख है। पाली चातुर्याम का प्राकृतरूप है चतुज्जाम जो तीर्थंकर महावीर के सभी पूर्ववर्ती सिद्धान्तों पर लागू होता है। महावीर का सुधार सम्प्रदाय पंचयाम धर्म के नाम से ख्यात है। चातुर्याम धर्म हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह जिनमे महावीर ने ब्रह्मचर्य जोड़कर पंचयाम धर्म की संज्ञा दी।

गोत्र—बौद्धों के अनुसार नातपुत्र का गोत्र था अग्निवेसान=अग्निवेश्यायन, किन्तु जैनो के अनुसार महावीर का गोत्र था काश्यप। अतः तीर्थंकर के गोत्र के विषय में हमे जैन परम्परा को ही श्रेय मानना चाहिए। बौद्ध ग्रथों मे प्रायः निग्रंठ नाथपुत्र की चर्चा है तथा कभी-कभी नातपुत्र का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु जैन परम्परा के अनुसार महावीर का जन्म ज्ञातृकुल मे हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डाक्टर बाबूराम सक्सेना अपने पत्र ५ सितम्बर १९४० में कहते हैं—ज्ञात या ज्ञाति का रूप नय, नाइ, जाय या जाइ हो सकता है किन्तु नाथ का रूप नाय या नाइ नहीं हो सकता। नाथ का प्राकृत रूप होगा नाह या णाह। महाप्राण अक्षर मेरी समझ मे अबतक इतने विकृत नही हुए हैं। नाय का 'य' किसी व्यजन के लोप का द्योतक है।

चेटक—बौद्ध ग्रन्थों मे वैशाली के राजा सिंह का उल्लेख है किन्तु जैन ग्रन्थों मे वैशाली का राजा है चेटक। वैशाली जैनों का गढ़ था। बौद्ध इसे घृणा की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि यह अनास्तिकों व विद्रोहियों का अड्डा था। बौद्धो के अनुसार वैशाली का शासन राजा, उपराज व सेनापति की सहायता से सघ के द्वारा करता था किन्तु जैनों के निरयावली-सुत्त के अनुसार, काशी व कोसल में १८ गणराज्य थे। इनके सिवाय लिच्छवी, मल्लकी तथा वैशाली के राजा थे चेटक।

दो महान् समाज सुधारक एक ही काल तथा क्षेत्र में अपने सिद्धान्त का प्रचार करें तथा वेद-ब्राह्मण धर्म को

१. (क) भारत का नया इतिहास, पुणे १९७८, पृ० १०। (ख) भारतीय विद्या, बम्बई, भाग ८, पृ० २३४।

उखाड़ फेंकने की चेष्टा करें, किन्तु दोनों आपस में कभी मिलकर इसे समूल नष्ट करने का यत्न न करें, यह एक विचारणीय प्रश्न है। मेरे ख्याल से यदि वे समकालिक होते तो अवश्य मिलते। उनका कदापि सम्मेलन न होना आश्चर्यजनक है।

कुमारिल भट्ट—तीर्थंकर महावीर ही नहीं, पार्श्वनाथ (निर्वाण ८४९ खृ० पू०) के पहले भी जैन धर्म प्रचलित था। ऋषभदेव (७६७३ खृ० पू०) जैनों के आदि तीर्थंकर है। बौद्ध ग्रन्थों मे जैन सिद्धान्तों का खण्डन है किन्तु जैन ग्रन्थों मे बौद्ध सिद्धान्तों का पता भी नहीं चलता। खृष्टपूर्व षष्ठ शती मे बौद्ध धर्म की जड़ जर्जर हो गयी थी।[2] कुमारिल भट्ट ने सनातन वैदिक धर्म श्लोक को दृढ तर्कसगत करने के लिए महावीर का शिष्यत्व किया। गुरुद्रोह के शाप से मुक्त होने के लिए कुमारिल भट्ट ने तीर्थराज प्रयाग मे तुषानल मे अपना शरीर भस्म कर देना उचित समझा, किन्तु शंकराचार्य[3] (५०८–४७६ खृ० पू०) ने उन्हे बचा लिया। उन्होंने भारत से बौद्धो का पत्ता काट दिया तथा आर्य वैदिक धर्म की पताका फहरायी।

श्रेणिक - श्रेणिक जैन संघ का नेता तथा महावीर का समकालिक था। उसकी रानी चेल्लना साध्वियों की नेत्री थी। संस्कृत श्रेणिक के प्राकृत व पाली रूप क्रमश: सेणिय व सेनिय है। कुछ आधुनिक विद्वानों ने श्रेणिक का समीकरण मगधराज बिम्बिसार से तथा उसके पुत्र कुणिक=कोणिक अजातशत्रु से किया है जिससे बुद्ध और महावीर समकालिक सिद्ध किये जा सकें। किन्तु इस समीकरण में अनेक दोष हैं। बिम्बिसार शिशुनागवंशी क्षत्रौजा का उत्तराधिकारी व पुत्र था। किन्तु श्रेणिक का पिता है उपश्रेणिक जिसने श्रेणिक को घर से बाहर निकाल दिया था और चिलाति को राज्य दिया। चिलाति अयोग्य था। वह राज्य न संभाल सका। अत: मंत्रियो ने उसे राजपद से हटाकर श्रेणिक को राजा बनाया। कोणिक की माता थी चेल्लना जो वैशाली गण के राजा चेटक की कन्या थी। अजातशत्रु की माता थी कोसलदेवी जो कोसलराज प्रसेनजित की बहन थी। कुणिक की पट्टमहिषी थी पद्मावती—धारिणी—सुभद्रा किन्तु अजातशत्रु की महिषी थी वजिरा जो कोसलराज प्रसेनजित की पुत्री थी। अजातशत्रु की राजधानी थी पाटलिपुत्र किन्तु कुणिक की राजधानी थी चम्पा, न कि पाटलिपुत्र।

पितृघातक—कुणिक व अजातशत्रु दोनो पितृघातक भले ही हों, किन्तु स्वप्नेच्छा, अंगुष्ठपीडा तथा कारा-यातना के विवरण मे आकाश-पाताल का अन्तर है। पिता की मृत्यु के बाद कुणिक ने चम्पा को अपनी राजधानी बनाया। उसने अपना राज्य, सेना व कोष अपने ११ भाईयो के लिए ११ भागो मे बाँट दिया। चेल्लना के दो पुत्र हल्ल व बेहल्ल कुणिक के सगे भाई थे। श्रेणिक

---

२. एज आव शंकर, मद्रास, १९१६;

जिनविजय नामक ग्रंथ में नारायण शास्त्री द्वारा लिखित लेख मे निम्न देखे जा सकते हैं। इसके अनुसार जैन युधिष्ठिर संवत् का प्रारम्भ ४६८ कलि संवत् में हुआ। इनका जन्म युधिष्ठिर संवत् २०७७ तथा पराभव २१०० है। अत: कुमारिल भट्ट का जन्मकाल है कलि संवत् २५४५ (२०७७+४६८)=खृष्टपूर्व ५५६ (३१०१-२५४५)। इनका पराभव ३२ वर्ष की अवस्था मे हुआ तथा शंकर इनसे १६ वर्ष की अवस्था में प्रयाग मे खृ० पू० ४९२ मे मिले थे।

आध्रोत्कलानां संयोगे पवित्रे जयमंगले।
ग्रामे तस्मिन् महानद्यां भट्टाचार्यकुमारकः॥
आन्ध्रजातिस्त्रैत्तिरीयो माता चन्द्रगुणा सती।
यज्ञेश्वरः पिता यस्य ॥
महावादिर्महान् घोरः श्रुतीना चाभिमानवान्।
जिनानामन्तकः साक्षात् गुरुद्वेष्यातिपापवान्॥
ऋषिवारस्तथा पूर्णे मत्स्याक्षो वाम मेलनात्।
एकीकृत्य लभेताङ्कः क्रोधी स्यत्तत्र वत्सरः॥
भट्टाचार्यकुमारस्य कर्मकाण्डस्यवादिनः।
ज्ञेयः प्रादुर्भवस्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरे शके॥
नन्दाः पूर्णभूश्च नेत्रे मनुजाना च वामतः।
मेत्यजे वत्सरो धाता युधिष्ठर शकस्य वै॥
भट्टाचार्य कुमारस्य कर्मकाण्डस्य वादिनः।
जातः पराभवस्तस्मिन विज्ञेयो वत्सरे शुभे॥

३. इण्डियन क्रोनोलाजी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६३।

ने सेचानक हाथी और १८ रत्नो का हार अपने पेटपोछना लाडले बेहल्ल को दे दिया था। इन्हे पाकर बेहल्ल गंगा तीर पर मौज से इठलाता था। इसे देखकर कुणिक की राजमहिषी पद्मावती की छाती पर सॉप लोटने लगा। कुणिक ने उन्हे हथियाना चाहा और सौंप देने की आज्ञा दी। अतः बेहल्ल सहायता के लिए अपने मामा चेटक के पास पहुंचा। चेटक ने काशी व कोशल के १८ गणराज्यों को, ६ मल्लकी और ६ लिच्छवियो की सहायता से कुणिक से लोहा लिया। किन्तु बौद्ध साहित्य में वैशाली व मगध राज्य मे युद्ध का कारण है रत्नो की खान। कुणिक ने श्येन व्यूह की रचना की तथा चेटक ने शकटव्यूह की। इस प्रकार हम देखते है कि अजातशत्रु तथा कुणिक दोनों की युद्ध नीति, सग्राम शैली तथा दुर्गपतन की प्रक्रिया में महान् अन्तर है।

मुनि नगराज[४] ने अपने "श्रेणिक बिम्बिसार तथा कुणिक अजातशत्रु" मे भगवान् महावीर की परम्परा तिथि ५२७ खृ० पू० ठीक करने के लिए बुद्ध का निर्वाणकाल खृ० पू० ५०२ मनमाने ढंग से मान लिया है। अतः बुद्ध निर्वाण की ५० तिथियां विद्वानो को चक्कर मे डाल देती है।

अतः प्रतीत होता है कि प्रचलित मान्य समीकरण निराधर है। दोनो सम्प्रदायाचार्य एक समय मे थे ही नहीं। इसी कारण बौद्ध व जैनो के धर्मग्रंथ की भाषा भी एक दूसरे से भिन्न है यद्यपि दोनो सम्प्रदाय अपने आचार्य के वचनो को उद्घृत करने का दम्भ भरते है।

अतः मानना होगा कि अजातशत्रु ने खृष्ट पूर्व १६वी शती मे भले ही वैशाली गणराज्य को हड़प लिया था किन्तु वहां पर पुनः छोटे-छोटे गणराज्य पनपने लगे। तीर्थंकर महावीर के काल मे दक्षिण मे आंध्रो का सितारा चमक रहा था। मगध मे ही नही, समस्त उत्तरापथ मे छोटे-छोटे सामन्त दो चावल की अपनी खिचड़ी पकाते थे। श्रेणिक व कुणिक इन्ही सामन्त राजाओ मे से थे। अतः कहा जा सकता है कि बुद्ध का निर्वाण खृ०पू० १७६३, अजातशत्रु के आठवें वर्ष मे हुआ तथा भगवान् महावीर का प्रादुर्भाव बुद्धनिर्वाण के प्रायः १२०० वर्ष बाद (१७६३—५२७+७२) हुआ। इसी कारण वे कभी न मिल सके तथा बौद्ध ग्रथो मे महावीर का कही उल्लेख नही है।

इस विषय मे एक सगोष्ठी, जैन विश्वभारती, लाडनू, राजस्थान मे २१ जनवरी, १६७६ को निदेशक डाक्टर नथमल टाटिया की अध्यक्षता मे हुई। इसमें आचार्य देवीचन्द शर्मा, लूणकरण विद्यार्थी, फूलचन्द जैन, नाथूलाल जैन, वीणा जैन, कुसुम जैन, विजयकुमार धर्माधिकारी तथा जगतपाल जी ने भाग लिया। समवेत अभिमत था कि इस विषय पर गहन चिन्तन व विचार की आवश्यकता है। क्या अन्य विद्वज्जन भी इस विषय पर समुचित विचार करेंगे? □□

(शेषांश पृ० ५८ का)

तमो गुणी प्रवृतियों प्रतीक मानकर) उन्हें वैराग्य पथ से विचलित करने का प्रयास करते हुए दिखलाया गया है, किन्तु जिस वैराग्य पर ये तीनों प्रवृत्तियाँ प्रभाव नही डाल सकती, वह सर्वोपरि अभिनन्दनीय है। इसीलिए भगवान् महावीर के वैराग्य को जो अप्रतिम गौरव प्राप्त हुआ है, वह उनकी कृतसंकल्प भावना पर आधारित है।

ससार के किसी भी भय से सत्रस्त न होने के कारण उनकी निर्भयता उस समय प्रगट हुई है जिस समय शूलपाणि नामक यक्ष उन्हें सत्रस्त करने मे असफल होता है। इस ख्याति मे वर्धमान महावीर का ई० पू० ७०० वर्ष से मानवता के कल्याण के लिए बारह वर्ष तक जो अमर संदेश वायुमण्डल मे गूजा है वह सदैव मानवता-विजयकेतु को फहराने के लिए प्रत्येक युग को प्रेरित करता रहेगा। मानव-जीवन पथ को प्रशस्त करनेके लिए भगवान महावीर का विचार तथा कृतित्व समस्त विश्व के लिए एकअनुपम धरोहर है। (वीर-निर्वाण-सेवा, इन्दौर के सौजन्य से) □□

(शेषांश पृ० ६१ का)

'प्राणावाय' की सज्ञा दी गयी है, द्वादशाग का ही एक अंग है। जैन वाङमय में द्वादशाग की प्रामाणिकता सर्वोपरि है, अतः उसके अन्तर्गत प्रतिपादित 'प्राणावाय' की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार जिस अष्टांग-परिपूर्ण वैद्यक शास्त्र को इतर आचार्यों-महर्षियों ने आयुर्वेद की संज्ञा दी है उसे जैनाचार्यो ने 'प्राणावाय' की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने भी अन्य आचार्यों की भाँति आयुर्वेद-साहित्य के सृजन में अपना अपूर्व योगदान किया है। आवश्यकता इस बात की है कि अनुसन्धान द्वारा उस साहित्य को प्रकाश मे लाकर आयुर्वेद-साहित्य की वृद्धि की जाए और आयुर्वेद की दृष्टि से उनका उचित मूल्यांकन किया जाए। □□

४. जैन विश्वभारती लाडनूं, १६७४।

सांख्य-दर्शन में सृष्टि-निर्माण : तुलनात्मक विवेचन

□ सुश्री अंजू सुराना, आगरा

भारतीय दर्शन में सृष्टि-निर्माण का प्रश्न महत्त्वपूर्ण रहा है। भारत के सभी विचारकों ने इस पर गहराई से विचार किया है। भारतीय दर्शनों में सांख्य-दर्शन बहुत प्राचीन है। वह भी जैन दर्शन की तरह ईश्वरवादी नहीं है अर्थात् ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता एवं निर्माता नहीं मानता है। सांख्य-दर्शन की मान्यता है कि प्रकृति और पुरुष का संसर्ग होता है तब संसार की उत्पत्ति होती है।

सांख्य-दर्शन में सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में मुख्यता प्रकृति की है; क्योंकि पुरुष कर्ता नहीं है, वह निष्क्रिय है। कर्ता स्वयं प्रकृति है। इसलिए परिणमन भी पुरुष में नहीं, प्रकृति में होता है। कारण स्पष्ट है कि पुरुष निष्क्रिय है, और प्रकृति सक्रिय। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। तीनों गुण—रजो गुण, सतो गुण और तमो गुण जब तक साम्य अवस्था मे रहते है, प्रकृति शान्त रहती है, उसमे किसी तरह की हलचल नजर नही आती। जब तीनों गुणों मे विषमता होती है, तब सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। प्रकृति की सक्रियता से ही सृष्टि का निर्माण होता है।

सृष्टि-निर्माण का क्रम :

सर्व प्रथम बुद्धि का उद्भव होता है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है। बाह्य जगत की दृष्टि से बुद्धि बीज स्वरूप है, जिसमे से विराट् जगत् जन्म लेता है और अन्तर्-दृष्टि से विचार करें तो बुद्धि अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही ज्ञाता ज्ञेय पदार्थों को जानता है। बुद्धि दो प्रकार की मानी गई है—जब सत्व गुण के आधिक्य से बुद्धि उद्बुद्ध होती है, तब उसे सात्विक बुद्धि कहते है और जब उसमे तमो गुण की अधिकता होती है, तब उसे तामसिक-बुद्धि कहते है। सात्विक-बुद्धि से व्यक्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं साधना की ओर गति करता है और तामसिक बुद्धि का प्रभाव बढ़ने पर वह अधर्म, अज्ञान एव विषय-विकारो की ओर दौड़ता है। वस्तुतः बुद्धि का व्यापार पुरुष (आत्मा) के लिए है। बुद्धिके सहयोग से पुरुष स्व और पर(प्रकृति) का भेद समझ कर अपने यथार्थ एव शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकता है :

अहंकार : प्रकृति का दूसरा विकार अहकार है। यह बुद्धि का परिणाम है। बुद्धि की अहता और ममता भाव अर्थात् मैं और मेरापन का अभिमान ही अहंकार है। अहंकार के कारण पुरुष भ्रम मे पड़कर स्वयं को कर्म का कर्ता एवं स्वामी समझने लगता है। अहकार तीन प्रकार का माना गया है—१. सात्विक, २. राजस और ३. तामस सात्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों—मन, पाच ज्ञानेन्द्रियों और पाच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राओं और पाँच महाभूतो की उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार सत्व एवं तामस का सहयोगी है।

ज्ञानेन्द्रियाँ : नेत्रेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और त्वगेन्द्रिय—इन पाँचों इन्द्रियो के द्वारा क्रमशः रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श का ज्ञान होता है। ये अहंकार के परिणाम है और पुरुष के निमित्त उत्पन्न होते है। इसलिए साख्य-दर्शन इनका कर्त्ता प्रकृति को मानता है, पुरुष को नही। पुरुष कर्त्ता नही, केवल भोक्ता है।

कर्मेन्द्रियाँ : पुरुष भोक्ता है। विषय की भोगेच्छा की पूर्ति ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियो के द्वारा होती है। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच है—मुख, हाथ, पैर, मलद्वार एवं जननेन्द्रिय। इनके कार्य इस प्रकार हैं—वाक्, ग्रहण, गमन, मल-त्याग और प्रजनन। वास्तव मे, इन्द्रियाँ अप्रत्यक्ष शक्ति रूप हैं, जो इन अवयवों मे रहती है और अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं।

मन : मन आभ्यन्तर इन्द्रिय है। वह ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और दोनों से सबद्ध है। मन ही इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर प्रेरित करता है। मन वस्तुतः सूक्ष्म है, फिर भी सावयव है। अतः वह युगपत् भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो सकता है, क्योंकि वह अन्तःकरण है। मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीनों अन्तःकरण है और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ बाह्य करण है। प्राण की क्रिया अन्तःकरण से प्रवर्तित होती है और अन्तःकरण बाह्यकरण से प्रभावित होता है। कुल त्रयोदश-करण होते है।

पाँच-तन्मात्रा : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के सूक्ष्म तत्त्वो को तन्मात्रा कहते है। पाँच विषयो की पाँच तन्मात्राएँ होती हैं। ये इतनी सूक्ष्म होती है कि इन्हें प्रत्यक्ष नही देख सकते। अनुमानसे ही इनका बोध होता है।

पञ्च महाभूत : पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों का आविर्भाव होता है। साख्य-दर्शन के अनुसार, शब्द-तन्मात्रा से आकाश महाभूत की उत्पत्ति होती है। स्पर्श और शब्द तन्मात्रा के संयोग से वायु की; शब्द, रूप

और स्पर्श के संयोग से अग्नि की; रस, शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओं के योग से जल की; और पाँचों तन्मात्राओं के संयोग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इसलिए इन पाँचों महाभूतों के गुण भी क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं।

विकास के दो रूप : प्रकृति का विकास एवं फैलाव दो रूपों मे होता है—बुद्धि-सर्ग और भौतिक सर्ग। प्रथम अवस्था मे बुद्धि, अहंकार और मन आदि एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् तन्मात्राओ एव महाभूतों की उत्पत्ति होती है, जिसे भौतिक तत्त्व कहते है। पाँच महाभूतों की उत्पत्ति के साथ ही सृष्टि-निर्माण का कार्य पूरा हो जाता है, इस प्रकार प्रकृति से सृष्टि साकार रूप लेती है और वह विलीन भी प्रकृति में होती है। सांख्य-दर्शन के अनुसार ससार का सारा खेल प्रकृति का है, पुरुष उसमे कुछ नही करता है। वह केवल इस खेल का द्रष्टा एवं भोक्ता है।

प्रकृति अचेतन है, जड़ है। परन्तु वह चेतन पुरुष से सबद्ध होने के कारण क्रिया उसी मे होती है। पुरुष शुद्ध है, उसमे क्रिया नही होती, इसलिए उसे बन्ध भी नही होता। कर्म, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ सब प्रकृति के धर्म है, इसलिए प्रकृति मे ही होते है। पुरुष को फल का भोग इसलिए मिलता है कि वह भोक्ता है; जैसे राजा के सामने नर्तकी नृत्य करती है। नृत्य की क्रिया राजा नही करता, वह तो केवल द्रष्टा बनकर देखता है और उस नृत्य का आनन्द लेता है। इसी प्रकार प्रकृति नृत्य करने वाली नर्तकी है और पुरुष इस ससार के इस नृत्य का द्रष्टा एवं भोक्ता अर्थात् आनन्द लेने वाला, भोग करने वाला है। अचेतन प्रकृति सक्रिय कैसे होती है? इसके लिए सांख्य-दर्शन में बताया है कि गाय के सामने जब बछड़ा आता है, तब उसके स्तनों मे दूध की धारा स्वतः ही प्रवहमान हो जाती है। इसी प्रकार पुरुष का बिम्ब पड़ने से ही प्रकृति मे सक्रियता आ जाती है और वह सृष्टि-निर्माण के कार्य मे सक्रिय हो जाती है।

सांख्य-दर्शन जैन-दर्शन के काफी निकट है। जैन-दर्शन भी ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता स्वीकार नही करता। सृष्टि अनादि-अनन्त है। उसका निर्माता कोई ईश्वर नही है। इस बात को जैन-दर्शन भी स्वीकार करता है कि आत्मा स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध है। आत्मा और पुद्गल—दो ही द्रव्य ऐसे है, जो सक्रिय है। आत्मा (पुरुष) शुद्ध है, उसका परिणमन अपने स्वरूप में होता है। कर्म पुद्गलों (प्रकृति) से संबद्ध होने के कारण वह ससार मे परिभ्रमण करता है। यह सत्य है कि कर्म-पुद्गल एव उनसे बने योगों से ही नये कर्मो का आगमन होता है। कर्म-पुद्गल ही पुद्गलों को आकर्षित करते है। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि अचेतन होने के कारण जड़-पुद्गल (प्रकृति) स्वतः कुछ नही कर पाते। योगो मे स्पन्दन तभी तक होता है, जब तक वे आत्मा से सबद्ध है और उन योगों से आगत कर्म-पुद्गलो का बन्ध जो होता है वह योगों से नही, परिणामों एवं भावना से होता है। परिणाम (भाव) आत्मा के है। भले ही वे शुद्ध भाव (स्वभाव) नहीं है, अशुद्ध-भाव (विभाव) है। परन्तु है आत्मा के ही। इसलिए इस अपेक्षा से जैन-दर्शन संसारी आत्मा को कर्त्ता भी मानता है, केवल भोक्ता नही। वह अपने आबद्ध कर्मों का कर्त्ता भी है, भोक्ता भी है और उनकी निर्जरा करके उनसे मुक्त होने वाला भी वही है। इस तरह सृष्टि के निर्माण मे दोनों में यह समानता भी है कि पुरुष (आत्मा) एव प्रकृति (कर्म-पुद्गल) के संयोग से ही संसार गतिशील है।

जैन-दर्शन आत्मा (पुरुष) को ज्ञान स्वरूप मानता है और सांख्य-दर्शन उसे (बुद्धि को, ज्ञान को) प्रकृति से उत्पन्न मानता है। वह भी जैन-दर्शन की तरह ज्ञान के शुद्ध-अशुद्ध दोनो रूप मानता है, परन्तु उसे पुरुष का स्वभाव नही मानता और वस्तु स्थिति यह है कि ज्ञान को आत्मा से पृथक् किया नही जा सकता। वह तब भी आत्मा मे रहता है, जब कि मुक्त अवस्था में प्रकृति (कर्म एव कर्मजन्य साधन) नहीं रहती।

सांख्य-दर्शन प्रकृति को परिणामी मानता है और पुरुष को अपरिणामी। परन्तु जैन-दर्शन प्रकृति (पुद्गल) की तरह पुरुष (आत्मा) को भी परिणामी नित्य मानता है। आत्मा का परिणमन अपने स्वभाव मे एवं अपने स्वरूप में होता है। लोक मे स्थित छहों द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एव जीव अपने-अपने गुणों मे परिणमन करते है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों एवं पर्यायों से युक्त होता है। अतः द्रव्य की अपेक्षा से नित्य रहते हुए उसकी पर्यायों में परिणमन होता है। परिणमन से उसकी नित्यता मे कोई बाधा उपस्थित नही होती। □□

जैन धर्म की प्रासंगिकता

□ डा० निजामुद्दीन

["अनेकान्तवादी समन्वयवादी होता है, वह परस्पर-विरोधी मतों, विचारधाराओं में सहिष्णुता की मिठास घोल कर उनकी कटुताओं को नष्ट कर उन्हें सर्वग्राही बनाता है। जैनधर्म का यह सिद्धान्त आज के संघर्षाकुल युग के लिए बहुत ही आवश्यक एवं उपादेय है। इसकी शरण में आकर साम्प्रदायिक और राजनीतिक सभी प्रकार के संघर्ष-द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं।]

आधुनिक बौद्धिक एवं तार्किक युग मे अनाग्रह-दृष्टि द्वारा ही सत्यान्वेषण किया जा सकता है। आग्रहजन्य आत्यन्तिक दृष्टि मिथ्यावाद की धुन्ध मे लिपट कर मनुष्य को अपने धर्म से विचलित कर देती है; उसकी वह दृष्टि दूसरों को तो भली प्रकार देख नही पाती, स्वयं को भी नही देख पाती। एक सन्तुलित एव सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर हम दूसरों को, अपने को, देखकर ज्ञान-लोक मे उतर सकते है। जैनधर्म की प्रासंगिकता इस दृष्टि से स्वयं-सिद्ध है कि उसका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सभी प्रकार के दुराग्रहों की धुन्ध को विच्छिन्न करता है और एक सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण को पल्लवित करता है, समतामय विचारधारा को विकसित करता है। आज समाज मे, देश मे, विश्व मे विचारो का सघर्ष है। सभी अपने-अपने दृष्टिकोण को मूल्यवान समझकर दूसरों के दृष्टिकोण को अवहेलित तथा खण्डित करते है। दूसरो की बात को, मन को सहानुभूति और सहिष्णुता के साथ न सुनना पारस्परिक सघर्ष को हवा देना है। हमारे देश मे साम्प्रदायिक दगो की विभीषिका देश को आक्रान्त किये है। सिक्खो के जत्थों मे कई बार खून-खराबा हो चुका है। पिछले कुछ महीनो मे हिन्दू-मुसलमानो के दंगों मे मनुष्य-जाति का अनमोल रक्त बहाया गया, हिंसा का क्रूरतम रूप कभी सभल, कभी अलीगढ़, कभी जमशेदपुर आदि मे देखा गया। बेचारे असख्य हरिजनों को धधकती आग मे जीवित झोका गया। ये हृदय-विदारक घटनाएँ केवल इसलिए हुई कि लोगों मे वैचारिक सहिष्णुता नही, अनाग्रह दृष्टि नही, सर्वधर्म-सम भावका उदारवादी दृष्टिकोण नही, जो जैनधर्मके अनेकान्तवाद मे अभिनिहित है। अनेकान्तवादी सघर्षवादी नही हो सकता, अनेकान्तवादी दुराग्रह द्वारा अपने मत को सर्वोत्तम नही कह सकता। अनेकान्तवादी समन्वयवादी होता है, वह परस्पर विरोधी मतों, विचार-धाराओ में सहिष्णुता की मिठास घोलकर उनकी कटुता को नष्ट कर सर्वग्राही बनाता है। जैन धर्म का यह सिद्धान्त आज के सघर्षाकुल युग के लिए बहुत ही आवश्यक और उपादेय है। इसकी शरण में आकर साप्रदायिक और राजनीतिक सभी प्रकार के संघर्ष-द्वन्द्व समाप्त हो जाते है। विश्व की सबसे बड़ी शान्ति स्थापित करने वाली सस्था यू० एन० ओ० जब अपने मिशन मे असफल हुई तो इस कारण ही कि सदस्य देश सकीर्ण विचार-धारा मे बाहर नही निकल सके, वे एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु नही बन सके, उनके विचार-तन्तु समन्वयात्मक दृष्टि मे से उद्भूत नहीं थे, वे अनेकान्तवादी नहीं थे। अपने ही देश मे राजनीतिक उथल-पुथल पर दृष्टि डालकर देखिये तो यहाँ भी अनेकान्त-रहित दृष्टि ही प्रमुख कारण है। जैनधर्म तो एकत्व और अनेकत्व दोनों को सत्य मानकर अगीकार करता है। जैनधर्म में भगवान् महावीर ने सामाजिक और राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक सभी प्रकार की समस्याओ का अहिंसात्मक समाधान अनेकान्तवाद द्वारा प्रस्तुत किया है, जिसकी उपयोगिता आज अधिक तीव्रता मे अनुभव की जा रही है।

जैनधर्म की प्रासगिकता पर विचार करते हुए सामाजिक एकता को सामने रखना होगा। आज हमारा समाज न जाने कितनी जातियो-उपजातियों मे विभक्त है और उस पर तुर्रा यह कि ये जातियाँ-उपजातियाँ ऊँच-नीच की हीनता की ग्रन्थि मे इतनी बुरी तरह फँसी है कि जो नीच घोषित कर दी गयी वह बस प्रलयकाल तक —सृष्टि के अन्त तक—नीच ही बनी रहेगी। हरिजनो को ही लीजिये; संविधान मे समानता के अधिकार की घोषणा की गयी, फिर भी शासन को, सरकार को हरिजनो की सुविधा के लिए, उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए विशेषाधिकारो की घोषणा करनी पड़ी; परन्तु इन विशेषाधिकारो को भोग कर अपना जीवन-स्तर ऊपर उठाने वाले क्या समाज मे समादृत है? नही। बाबू जगजीवन राम हमेशा से मन्त्री पद पर रहे है, परन्तु आम लोगो ने इन्हे 'हरिजन' ही समझा। जैनधर्म में इस प्रकार

के जातीय भेदभाव का कलंक नहीं। डा० राधाकृष्णन् ने ठीक कहा है—'जैन-दर्शन सर्वसाधारण को पुरोहित के समान धार्मिक अधिकार प्रदान करता है'। क्या कोई हरिजन वेद-उपनिषद् का महान् पण्डित होकर इस प्रकार धार्मिक अधिकार ग्रहण कर सकता है हिन्दू समाज मे? जैनधर्म तो लोकधर्म है, समाजधर्म है, उसमे व्यक्ति के विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता है। बदलते हुए सन्दर्भों मे जैनधर्म का मूल्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। समाज मे एकता और समानता स्थापित करने के लिए जैनधर्म की ओर देखना होगा। हम यों नही कहेगे कि जैनधर्म, जो भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक श्रमण-धर्म की शिक्षाओं को तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुकूल प्रचारित करता रहा, बदल गया है; हम तो यह मानते है कि वह बदला नही, बल्कि उसका क्षेत्र और अधिक विस्तृत हो गया है। वह 'जीव-मूल्यों' के साथ 'जीवन-मूल्यों की बातें भी कहने लगा है। उसकी आचारगत अहिंसा विचारगत अहिंसा की भूमि में पहुंच गयी है। व्यक्तिगत उपलब्धि सार्वजनिक बनती जा रही है। महावीर ने घर-बार छोड़कर जो व्यक्तिगत कैवल्योपलब्धि प्राप्त की वह सार्वजनिक ही तो है। क्या उनके समवसरण के द्वार सभी के लिए खुले नही थे? कसाई, चोर-जार, ज्ञानी-मूर्ख, बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी बिना किसी भेदभाव के वहां सम्मिलित होते थे। जैनधर्म की यह समन्वयवादी या समानतावादी विचारधारा हमारे समाज मे एकता स्थापित कर सकती है; उससे हम अपने राष्ट्र की एकता को अधिक मजबूत बना सकते है। महावीर ने वर्गहीन समाज की स्थापना की थी, आज हम भी समाजवाद के द्वारा उस आदर्श को छूने का प्रयास कर रहे है। आज जातीय बन्धनो को तोडकर जो एक नया समाज बनता नजर आता है, उसने जैनधर्म को आत्मसात् किया है, ऐसा मालूम होता है। आचार्य तुलसी और एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी आदि के उपदेशो को उसने आत्मसात् किया है।

कालानुसार पुरानी मान्यताओं के रूप बदलते हैं, नवीन और व्यापक होते हैं। अहिंसा अवश्य परम धर्म है। किसी को मारना, सताना, पीटना हिंसा है; लेकिन आज हिंसा युग-सन्दर्भों मे कुछ नवीन रूप धारण कर सामने आती-जाती है। यह मानना होगा कि जैनधर्म मे अहिंसा पर जितना अधिक जोर दिया गया, शायद वैसा जोर विश्व के किसी धर्म मे नहीं दिया गया। जैन समाज में बालक को बचपन मे ही अहिंसा का पाठ मां की गोद में पढ़ाया जाता है। अहिंसा और सेवा-भाव का प्रसार जैन समाज ने इतना अधिक किया है कि समाज के किसी वर्ग ने इतना नही किया। अनेक औषधालय, समाज-सेवी संस्थाएँ, कालेज जैन समाज द्वारा सारे देश में चलाये जा रहे हैं। राष्ट्रीय उद्योग को विकसित और संवर्धित करने में जैन उद्योगपतियों का योगदान स्वर्णाक्षरों मे लिखने योग्य है। जैनधर्म मे तुच्छ-से-तुच्छ और हिंसक-से-हिंसक प्राणी को मारने का पूर्ण निषेध है; लेकिन आज की हिंसा पशु-पक्षी को मारने, किसी जीवधारी को सताने तक सीमित नही; उसने भी अपने क्षेत्र का विस्तार काला धन, उत्कोच, चोरी-डकैती, जमाखोरी, खाने-पीने की वस्तुओं मे मिलावट, तस्करी या स्मगलिंग आदि रूपों मे किया है। ये सब सामाजिक दोष है और समाज विरोधी तत्त्व इन्ही के द्वारा रातो-रात लखपति बन जाते हैं। जैनधर्म मे अस्तेय का सिद्धान्त जहां चोरी-डकैती का निषेध करता है, ऐसे पापमय कुकर्म से बचने का आदेश देता है, वही अपरिग्रह का सिद्धान्त जमाखोरी, खाने-पीने की वस्तुओ मे मिलावट, तस्करी आदि से बाज रखता है। महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धान्त सामने रखकर वर्तमान युग की समस्याओ का अहिंसात्मक समाधान प्रस्तुत किया। बुरे कर्मों से समाज बुराई मे फँसेगा ही, दुर्गन्ध से वातावरण दुर्गन्धित होगा ही। अच्छे कर्मों के फलों की सुगन्ध ही दूर-दूर तक फैलती है। 'नारायणोपनिषद्' मे कहा गया है—

यथा वृक्षस्य सपुष्पितस्य दूराद्गंधो वाति।
एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गंधो वाति॥

अर्थात् फूले हुए वृक्ष की सुगन्ध दूर-दूर तक फैल जाती है, वैसे ही पवित्र कर्मों की सुगन्ध दूर-दूर तक पहुचती है। जैनधर्म का अपरिग्रह का सिद्धान्त भी एक पुष्पित वृक्ष है, उसके गुणों की सुगन्ध फैलनी ही चाहिये। जहाँ कहीं परिग्रह है, लूट-खसोट है, उसकी दुर्गन्ध को अपरिग्रह की सुगन्ध नष्ट कर सकती है। समाचार-पत्रों में पढने को मिलता है कि अमुक गाव या नगर में डाकुओं ने घर मे घुस कर हत्याएँ की और हजारों का माल लेकर फरार हो गये, या अमुक राह चलती स्त्री के गले की स्वर्ण-

चेन खींच कर कोई भाग गया, या अमुक युवती को दहेज कम लाने पर गला घोंट कर या मिट्टी का तेल छिड़क कर हत्या कर दी गयी। इन सब के पीछे परिग्रह की बुराई है। वह परिग्रह जिसे जैनधर्म में वर्जित घोषित किया है। मनुष्य धनार्जन करे, परन्तु उचित साधनों से और उचित मात्रा में उससे दूसरों की सेवा करें। अपरिग्रह को हमें महावीर के इस आदर्श को सामने रखकर ग्रहण करना चाहिये कि जिससे दूसरो की सेवा की जा सके, देश का नवनिर्माण किया जा सके, अपने से अधिक दूसरो को सुख पहुचाया जा सके। महावीर नही चाहते थे कि कोई गरीब हो, गरीबी के अभिशाप मे फँसा हो। जैनधर्म की दृष्टि समाजवादी है, लेकिन दूसरे प्रकार की। अपरिग्रह को हम समाजवाद के निकट रख सकते है, लेकिन अपरिग्रह को समाजवाद नही कह सकते। समाजवादी आदर्श यह है कि कोई मुझसे बड़ा न हो, सब मेरे बराबर हों। अपरिग्रहवादी आदर्श यह है कि कोई मुझसे छोटा न हो, बड़ा चाहे हो। वह जो कुछ अपने पास रखता है उसे दूसरो में भी बाँटना चहता है। केवल गरीबी [illegible] या वस्तुओ के मूल्य कम करो के नारे लगाने से समस्या का निदान नही हो सकता। गरीबी यदि मिटानी है, वस्तुओ के मूल्यो को बढने से रोकना है, जमाखोरी या तस्करी को नष्ट करना है तो जैनधर्म मे निर्दिष्ट अपरिग्रहवाद को स्वीकार करना होगा। आज इसी सिद्धान्त की समाज को अधिक आवश्कता है। इसी के द्वारा आर्थिक विषमता-जन्य अनेक समस्याओं को सरलता से हल किया जा सकता है। जब तक परिग्रहजन्य छीना-झपटी रहेगी, वस्तुओ का सचय किया जाता रहेगा, वस्तुओं के मूल्य बढ़ते रहेगे—गरीब और गरीब, अमीर और अमीर होते रहेगे और समाज या देश सुख-शान्तिसे वञ्चित रहेगा। लोग दरिद्रता के चक्र मे फँसे असहाय दम तोड़ते रहेगे। देश दुर्व्यसनो मे जकड़ा रहेगा। कानून पास करने से हृदय नही बदलता। हृदय बदलता है, ज्ञान से, अहिंसा से, अभ्यास से। यहाँ कथनी और कर्ममें समानता होनी आवश्यक है। लोग हृदय से अपरिग्रही हों, तभी वे भौतिकता से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक लोक मे पहुंच सकते हैं। इस प्रकार अपरिग्रह भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सुदृढ़ सेतु का काम करता है। वह वचनानुसार कर्म कर के अध्यात्म-भूमि को छू सकता है। हमारे नेताओं-राजनेताओं की बातों में कोई तालमेल नहीं होता; जो वे कहते है, वह करके नहीं दिखाते—शायद वे कानून अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए पास करते है। समाज की आर्थिक विषमता का समाधान जैनधर्म के अपरिग्रहवाद मे खोजना होगा। आज उसकी उपादेयता महावीर के युग से काफी अधिक है।

हमारा देश जैसा बहुधर्मी है, वैसा बहुभाषी भी है। यहाँ संकीर्ण विचार-धारा के कारण लोग भाषा को भी धर्म का चश्मा चढा कर देखते है। मुसलमानो की भाषा उर्दू बतायी जाती है, सरकार भी इस भावना का शोषण करती है। कही उर्दू अकादमी बनाकर, कही गालिब अकादमी खोलकर, कहीं उर्दू-अध्यापकों की भर्ती का नारा लगाकर सरकार मुसलमानो की भावना से उचित-अनुचित लाभ उठा रही है। हिन्दी को अहिन्दी-भाषियों पर थोपने का बे-सिर-पैर का नारा लगाकर दक्षिण प्रदेश के लोगों को भडकाया जाता है। कश्मीर भी एक अहिन्दी भाषी प्रान्त है। यहाँ की बहुसंख्यक आबादी मुसलमानों की है, उनकी मातृभाषा कश्मीरी है, जिसमे संस्कृत के ७० प्रतिशत शब्द व्यवहृत हैं। यहाँ के मुख्य मंत्री शेख मोहम्मद अब्दुल्ला ने आठवी कक्षा तक सरकारी स्कूलों मे हिन्दी अनिवार्य घोषित की और 'औकाफ ट्रस्ट' की ओर से जो विद्यालय चलाये जाते हैं उनमे भी शेख साहब ने हिन्दी को अनिवार्य विषय घोषित किया। 'औकाफ ट्रस्ट' के अध्यक्ष शेख साहब हैं। यहा भाषा की समस्या को शेख साहब ने धर्म से नही जुडने दिया। दूसरे प्रान्तो मे अवश्य प्रान्तीयता या धर्म की सकीर्णता को लेकर भाषा का हौआ खड़ा किया जाता रहा है। जब जैनधर्म पर दृष्टि डालते है, तब देखते हैं कि उसका भाषा के प्रति कोई दुराग्रह नही रहा कोई सकीर्ण विचार नही रहा। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि अनेक भाषाओं मे उसका साहित्य है। यहाँ जैनधर्म की प्रासंगिकता स्पष्ट है। मत-भेदो को सामंजस्यपूर्ण उदारता और शालीनता से दूर किया जा सकता है। भाषा को अपने युग की विचार-धारा को व्यक्त करने का माध्यम मानकर ही स्वीकार करना चाहिए। जैनधर्म में उसी भाषा को स्वीकार किया जाता रहा जो उस युग मे प्रचलित थी। भाषा-भेद को मिटाने के लिए जैनधर्म की नीति अपनानी होगी। □□

जिनागम में प्रतिपादित उपचरित कथन का रहस्य

□ श्री महाचन्द्र जैन, इम्फाल (आसाम)

मोक्षमार्ग की समझ के लिए वचन के अर्थभूत उपचरित पदार्थ के कथन को जिस प्रकार से किया जाता है, उसी प्रकार से मानना भी चाहिए या इस प्रकार से किये हुए कथन के समझने मे कुछ विशेषता है, इसके रहस्य को समझने के लिए सर्वप्रथम कथन के अर्थात् वचन के भेदों-प्रभेदों द्वारा स्वरूप को समझना आवश्यक है।

मोक्षमार्ग तथा संसार मार्ग एक दूसरे के विरुद्ध अलग-अलग मार्ग है, इसलिए संसार मार्ग की अपेक्षा एव मोक्ष मार्ग की अपेक्षा से कथन की समझ भी भिन्न प्रकार से होनी चाहिए; यदि मोक्षमार्ग के कथन की समझ भी संसार मार्ग के कथन की तरह से ही समझी या मानी जावे तो समझ की शुरुआत ही विपरीत होने की वजह से मिथ्यात्व की ग्रन्थि खोलने का शब्द द्वारा वचन मे अभिप्राय रखते हुए भी समझने का समस्त पुरुषार्थ विपरीत हो जाने के कारण मिथ्यात्व की गाठ नही खुल सकेगी।

जिस तरहसे संसार मार्ग के लिए जीवन मे प्रति समय गुजरने वाले सम्बन्धो तथा सम्पर्कों के लिए समझ अपनाई जाती है; उससे भिन्न प्रकार की समझ रंगमच पर नाटक वगैरह मे अभिनय करते समय, मुख से सभी तरह के वचन कहते हुए भी उन वचनों द्वारा अपनी समझ या मान्यता को विपरीत न बनाते हुए जिस पात्र की भूमिका मिली है, उसका यथार्थ की तरह अभिनय करते है; उसी तरह से मोक्षमार्ग की समझ अपनाने वाले जीव भी इस संसार को ही एक रगमच मानकर मिली हुई भूमिका अनुसार यथार्थ की तरह अभिनय करते हुए वचन के द्वारा कहे गये कथन की यथार्थ समझ द्वारा जीवन मे विशेष दृष्टिकोण अर्थात् स्वभाव दृष्टि अपनाते है।

वचन के दो प्रकार के भेद मे जो निरर्थक वचन होते है, जैसे बध्यासुत, आकाश कुसम वगैरह, उनके विषय मे विचार नही करके सार्थक वचन याने जो वचन पदार्थ का प्रतिपादन करने मे समर्थ है, उनके विषय मे ही यहां चर्चा करना अपेक्षणीय है।

पदार्थ के प्रतिपादक सार्थक वचन भी समझ की अपेक्षा से दो प्रकार के कहलाते है : १. मिथ्यावचन, और २. सत्यवचन।

संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय रूप समझ हो जाने के कारण ऐसे प्रतिपादन करने वाले वचनों को मिथ्या वचन कहते है तथा अर्थभूत पदार्थ जैसा है, वैसा ही यथार्थ समझ हो जाने के कारण ऐसे प्रतिपादन करने वाले वचनों को सत्य वचन कहते है।

सत्य वचन द्वारा अर्थभूत पदार्थ जैसा है, वैसा प्रतिपादन अभिधेय रूप मे अभिधा-वृत्ति नामक शक्ति द्वारा लक्ष्य रूप मे लक्षणावृत्ति नामक शक्ति द्वारा तथा व्यंग रूप मे व्यजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति द्वारा किया जाता है। विशेष इतना समझना चाहिए कि अभिधेय रूप प्रतिपादित पदार्थ का कथन मुख्य व उपचरित के भेद से दो प्रकार का होता है।

इस प्रकार कथन की अपेक्षा से समझने के लिए पदार्थ मे भी मुख्य व उपचार का भेद किया जाता है।

मुख्य कथन वह कहलाता है जिसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध हो तथा जिसका अस्तित्व स्वयसिद्ध नही होकर निमित्त तथा प्रयोजनके आधार पर सिद्ध हो, वह उपचारित कथन कहलाता है।

इसी उपचरित कथन द्वारा स्वयं के अस्तित्व की सिद्धि में जो निमित्त रूप आधार कथन होता है, वह लक्ष्य रूप पदार्थ का कथन कहलाता है और इसी उपचरित कथन द्वारा स्वयं की सिद्धि मे जो प्रयोजन रूप आधार कथन होता है वह व्यंग रूप पदार्थ का कथन कहलाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपचरित पदार्थ का कथन स्वयं लक्ष्य रूप या व्यंग रूप पदार्थ का कथन नही है लेकिन स्वय के कथन की सिद्धि याने ज्ञान होने मे निमित्त पड़ रहे लक्ष्य रूप पदार्थ के कथन की सिद्धि करने के विशेष प्रयोजन को लेकर उपचरित कथन "अर्पितानर्पित सिद्धेः" सूत्र अनुसार प्रतिपादित किया जाता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि उपचरित कथन स्वयं की अपेक्षा कल्पित एव निरर्थक प्रतिपादित कथन नहीं है लेकिन निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर उपचार किया हुआ कथन है, अर्थात् निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर कल्पित किया हुआ कथन हुआ। इसलिए जैनागम में उपचरित कथन को आरोपित, आगन्तुक, आपेक्षिक, पर-सापेक्ष, नैमित्तिक, कल्पित या व्यवहार रूप से कहा गया है।

स्वयं पदार्थ में मुख्य तथा उपचार का भेद नहीं है लेकिन वचन द्वारा पदार्थ मे मुख्य अथवा उपचारपना कल्पित किया जाता है। इसलिए वचन द्वारा ही किसी अन्य पदार्थ मे किसी अन्य मुख्य पदार्थ की अपेक्षा उपचार करके उस उपचरित कथन द्वारा मुख्य पदार्थ के कथन को समझा जाता है।

इसके लिए जैनागम मे कुंभकार वगैरह का दृष्टांत दिया जाता है जिसका शाब्दिक सीधा अर्थ कुंभ आदि को करने वाला व्यक्ति होता है; परन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि जैन मान्यता के अनुसार कर्ता वही पदार्थ कहलाता है, जो स्वयं कार्य रूप परिणत होता है तथा कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि अर्थात् ज्ञान होने मे सहायक होना उस सहायक होने वाली वस्तु की कर्तृत्व सिद्धि मे कारण रूप है, कर्तृत्व रूप नही है; इसलिए यही निर्णीत होता है कि कार्यरूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि मे जो कथन वास्तविक रूप से सहायक होता है।

उसमे वास्तविक रूप से विद्यमान उस सहायकपन के आधार पर कर्तृत्व का उपचार किया जाता है और यही कारण है कि इस प्रकार के कर्तृत्व को उपचरित, आरोपित, आगन्तुक, आपेक्षिक, परसापेक्ष, कल्पित या व्यवहार शब्दों से पुकारा जाता है, जिसका तात्पर्य यह होता है कि कार्यरूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि याने ज्ञान होने मे सहायक होने वाले कथन मे यद्यपि कार्यरूप परिणत होने रूप स्वयसिद्ध या स्वाश्रित मुख्य कर्तृत्व विद्यमान नही है फिर भी कार्यरूप परिणत होने वाली उस वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि याने ज्ञान होने में सहायक होने के आधार पर उपचरित रूप कर्तृत्व तो उसमे विद्यमान है ही।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्तृत्व का उपचार या आरोप भी उसी कथन मे हुआ करता है जो कथन कार्यरूप परिणत होने वाली वस्तु की उस कार्यरूप परिणति की सिद्धि में सहायक हुआ करता है। इस तरह कार्यरूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि याने ज्ञान होने में निमित्त कहे जाने वाले कथन का, सिद्धि याने ज्ञान होने मे सहायकपना तो वास्तविक है लेकिन कर्तृत्वपना उपचरित है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विवक्षित उपादान कारण से किसी विवक्षित कार्य की उत्पत्ति की सिद्धि वचन द्वारा मुख्य रूप से स्वयं सिद्ध भी होती है तथा उपचरित कथन द्वारा भी होती है। इसीलिए उपचरित कथन का अपना अस्तित्व स्वयंसिद्ध नही है, कारण जहां मुख्यपने का अभाव हो तथा निमित्त और प्रयोजन का सद्भाव हो, वहीं पर उपचार प्रवृत्त होता है।

उपरोक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि जो कथन उपादान कारणभूत वस्तु की कार्यरूप परिणति का ज्ञान होने मे सहायक होता है, उसी को उपचरित कारण निमित्त कारण या सहकारी कारण कहा जाता है।

इसी अपेक्षा से श्रीमद् अकलक देव ने अपनी आप्त मीमांसा कारिका १० की अष्टशती टीका मे निम्न कथन किया है।

तद् सामर्थ्यम् खण्डयदकिंचित्करं किं सहकारीकारणं स्यात् ?

अर्थात् —सहकारी कारण यदि कार्यरूप परिणत होने की योग्यता रखने वाली उपादान कारणभूत वस्तु की कार्य रूप परिणत न हो सकने रूप असामर्थ्य (अशक्ति) का खण्डन नही करता हुआ सर्वथा अकिंचित्कर ही रहता है तो फिर उसे सहकारी कारण कहा जा सकता है क्या ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता।

उपरोक्त कथन मे खण्डन शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है क्योकि खण्डन-मण्डन रूप क्रिया शब्द द्वारा कथन मे ही हुआ करती है।

मोक्षमार्ग को समझने के लिए सर्व प्रथम कथन करने की पद्धति की यथार्थ समझ होना अत्यंत आवश्यक है, क्योकि यदि कथन की पद्धति ही नही समझ सके तो वक्ता का अभिप्राय भी सही समझ मे नहीं आ सकेगा।

वचन के अर्थभूत पदार्थ का कथन मुख्य तथा उपचरित दोनो ही प्रकार से हुआ करता है। कथन दो प्रकार से होने पर लक्ष्य रूप पदार्थ को भी दो प्रकार का मान लेवे तो समझ मे भूल रह जाती है। उपचरित कथन का अभिप्राय भी उपचरित कथन की मुख्यता प्रतिपादित करना न होकर उस एक लक्ष्य रूप अर्थभूत पदार्थ का प्रतिपादन करना ही है। अपेक्षा मे दोनों तरह के कथन करने में भिन्न-भिन्न हैं। मुख्य कथन स्व-अपेक्षा किया गया कथन है तथा उपचरित कथन पर-अपेक्षा किया गया कथन है।

स्व अपेक्षा का कथन स्वयंसिद्ध होता है, इसलिए ऐसा कथन उत्पत्ति मार्ग तथा ज्ञप्ति मार्ग दोनों का ज्ञान कराने वाला होता है तथा पर-अपेक्षा का कथन निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर सिद्ध होता है इसलिये यह कथन मात्र ज्ञाप्तिमार्ग अर्थात् ज्ञान कराने वाला कथन है। इन्हीं दोनों प्रकार के कथन को अध्यात्म कथन-आगम कथन, तथा निश्चय कथन-व्यवहार कथन नाम से भी कहा जाता है तथा यही अपेक्षा भिन्नता ज्ञान के अनेकान्त स्वरूप को समझाने के लिये स्याद्वाद नाम से प्रसिद्ध है।

किसी भी कथन की विवेचना करते समय पहले कथन को भली प्रकार समझना जरूरी है कि इस कथन का शब्दार्थ, नयार्थ मतार्थ आगमार्थ तथा भावार्थ क्या है?

मुख्य कथन तो स्वयसिद्ध होने के कारण, उसकी समझ में तो विशेष बाधा नही आती है लेकिन उपचरित कथन में उपचरित कथन के लक्षण का ध्यान नही रखने के कारण अन्यथा समझ अपना ली जाती है। इस विपरीत समझ के कारण उपचरित कथन मे मिथ्यापन का आरोप आ जाता है क्योंकि उपचरित कथन का मुख्य रूप से प्रतिपादन करना या समझना ही विपरीत याने मिथ्या है। उपचरित कथन स्वयं ही यह घोषित करता है कि मैं मुख्य कथन नही हूँ। मुख्य को समझने के लिये ही मेरे में मुख्य का उपचार किया गया है, इसीलिए उपचरित कथन स्वय-सिद्ध नही होकर निमित्त एवं प्रयोजन के आधार पर ही सिद्ध होता है।

उपचरित कथन कहो या निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध कहो, एक ही बात है। उपचरित कथन का लक्षण निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को सिद्ध करने वाला है। जब उपचरित कथन निमित्त रूप में माना जावे तो उपचरित कथन का लक्ष्य या प्रयोजन नैमित्तिक माना जाता है तथा उपचरित कथन का लक्ष्य या प्रयोजन जब निमित्त रूप से प्रतिपादित होता है तो वही उपचरित कथन मुख्य रूप होकर नैमित्तिक कहलाता है। इस तरह से सभी उपचरित कथन निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को लिये हुए है; इसलिए उपचरित कथन तथा उसका लक्ष्य आपस मे एक दूसरे की अपेक्षा निमित्त रूप भी है तथा नैमित्तिक रूप भी है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि उपचरित कथन मुख्य कथन के अर्थभूत पदार्थ का ज्ञान करने में निमित्त है, न कि मुख्य कथन के अर्थभूत पदार्थ के उत्पन्न होने मे।

पदार्थ प्रतिपादन रूप शब्द, पदार्थ, पदार्थ का ज्ञान क्रमशः शब्दनय, अर्थनय तथा ज्ञाननय के विषय हैं। शब्द में ज्ञान का उपचार याने व्यवहार किया जाता है तथा ज्ञान स्वय ज्ञानरूप है ही; इसलिये पदार्थ अर्थात् अर्थ नय को समझने के लिये शब्द द्वारा जो भी कथन या वचन रूप मे व्यवहार होता है, वह सब शब्दनय का विषय है तथा शब्द द्वारा पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह ज्ञाननय का विषय है। इस प्रकार से पदार्थ को जानने का मार्ग ही ज्ञप्ति मार्ग, आगम मार्ग, व्यवहार मार्ग कहलाता है। इस मार्ग के द्वारा मात्र पदार्थ के कथन का ज्ञान होता है, स्वय पदार्थ नही हुआ करता। लेकिन मूल मे भूल वश इस ज्ञप्तिमार्ग द्वारा पदार्थ का होना मान लिया जाता है याने ज्ञप्तिमार्ग से पदार्थ की उत्पत्ति मान लेते है। इस कारण-विपरीतता की विपरीत मान्यता के कारण अनादिकाल मे जीव को अपने आत्मस्वभाव की सम्यक् प्रतीति नही हो पा रही है जिसके फलस्वरूप इष्ट अनिष्ट कल्पना तथा रागद्वेष रूप परिणमन का अभिप्राय निरन्तर मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी कषाय के रूप मे प्रतिफलित हो रहा है।

पदार्थ की उत्पत्ति उपादान कारण से भी और निमित्त कारण से भी याने दोनों कारणों से उत्पत्ति मानना ही तो मिथ्या अनेकान्त है। जबकि उपादान कारण भिन्न अपेक्षा याने उत्पत्ति की अपेक्षा से कारण है तथा निमित्त कारण याने उपचरित कारण भिन्न अपेक्षा ज्ञप्ति याने जानने की अपेक्षा से कारण है तथा यह अपेक्षा-भिन्नता ही सम्यक् अनेकान्त है।

इसी अनेकान्त स्वरूप को समझने के लिये ही समय सार गाथा १२ की टीका मे श्रीमद् आचार्य देव ने जो मार्मिक चेतावनी दी है, उसका सही भाव समझना भी अपेक्षित है।

जइ जिणमय हवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
ए एण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।

हे भव्य जीवो ! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के बिना तो तीर्थ (धर्म तीर्थ याने ज्ञान तीर्थ जो कि तत्त्वरूप निज शुद्धात्म स्वरूप के निकट किनारे तक पहुंचाने का साधन है) का नाश हो जावेगा तथा निश्चय के बिना तत्व (निज शुद्धात्म स्वरूप साध्य रूप आत्मतत्व का नाश हो जावेगा)।

इसके लिये समयसागर मूलगाथा १२ मे श्रीमद् कुन्द-कुन्दाचार्य देव ने स्पष्ट निर्देश किया है कि अपरम भाव (विकल्पात्मक अवस्था) में व्यवहार प्रयोजनीय है, अर्थात् भेदज्ञान का विकल्प याने दोनों नयो द्वारा वस्तु स्वरूप को जानने रूप व्यवहार जानने की अपेक्षा प्रयोजनवान् है तथा परमभाव (निर्विकल्प अवस्था) मे निश्चय नय द्वारा प्रतिपादित स्वयं के शुद्धात्म स्वरूप का अर्थात् आत्मज्ञान का ज्ञान आश्रय ग्रहण करने की अपेक्षा से प्रयोजनीय है।

भेद नाम व्यवहार का है। निश्चय तथा व्यवहार रूप भेद मात्र ज्ञान का ही भेद है। ज्ञान की अपेक्षा याने समझने की अपेक्षा से अन्य गुणों में भी निश्चय व्यवहार के भेद का प्रयोग शब्द द्वारा किया जाता है लेकिन उस प्रयोग करने के यथार्थ अभिप्राय को भूलकर श्रद्धा और प्रवृत्ति वगैरह में भी जो निश्चय व्यवहार की मान्यता मान ली जाती है, इसी समझ की भूल के कारण उपचरित कथन के सही आशय को भूलकर विपरीत मान्यता बनी रहती है। यह समझ बहुत मोटी भूल है। प्रबुद्ध जिज्ञासुओं को इस विषय पर विशेष ध्यान देकर चिन्तन-मनन करके निर्णय करना चाहिये। अन्य गुणों का परिणमन शुद्ध या अशुद्ध यथार्थ ही है। मात्र ज्ञान की अपेक्षा शब्द द्वारा उनमें निश्चय व्यवहार का उपचार किया जाता है।

जैनागम मे जगह-जगह व्यवहारनय को निश्चयनय का साधन कहा है, क्योंकि निश्चय नय के अर्थभूत निज शुद्धात्म तत्व आत्मज्ञान का कथन वचनरूप व्यवहार द्वारा होता है। इस तरह से वचनरूप व्यवहार ज्ञान निश्चय साध्यरूप आत्मज्ञान के ज्ञान का साधन है। लेकिन निज के ज्ञान स्वभाव को भूलकर व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्ति के कथन को निश्चयनय द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्ति के कथन को निश्चयनय द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्ति के ज्ञान का साधन नही मान कर निश्चय नय द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्ति की उत्पत्ति का साधन मानना मात्र समझ की विपरीतता ही है। इस तरह से सत्य प्रतिपादन करने की क्षमता रखने वाले उपचरित कथन को अपनी विपरीत समझ के द्वारा मिथ्या मान्यता रूप मानना स्वयं अपनी ही भूल है। आचार्यों के कथन करने में भूल नहीं है।

इस विवेचना का यही निष्कर्ष निकलता है कि उपचरित कथन का कहना तो व्यवहार है लेकिन उसको वैसा ही मानना मिथ्यात्व है; जैसे कि राग को धर्म कहना व्यवहार है, उपचार है लेकिन राग को धर्म मानना मिथ्यात्व है; क्योंकि राग रूप से कहना तो मुख्य कथन है, यथार्थ कथन है, सत्य वचन है तथा राग को धर्म का व्यवहार है, उपचरित कथन है; उपचार रूप से यथार्थ है, सत्य वचन है क्योंकि अपने लक्ष्य रूप धर्म के कथन का ज्ञान कराने की अपेक्षा प्रयोजनवान् है। लेकिन राग में धर्म उपचार किया अर्थात् राग को धर्म कहा इसलिये राग को भी धर्म मान लिया जावे या राग से धर्म की उत्पत्ति मान ली जावे तो यह मानना विपरीत हो जाता है तथा ऐसा मानना मिथ्यात्व कहलाता है।

इसी तरह से आत्म-स्वभाव की अपेक्षा शरीर आदि नोकर्म तथा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप परपदार्थ तथा रागादिक परभावरूप भावकर्म को अपना कहना आत्म-स्वभाव का उपचार है। लेकिन इनको अपना मानना अर्थात् सबको अपना आत्म स्वभाव मानना मिथ्यात्व है। ज्ञानी जीव के स्वभाव दृष्टि की वजह से मान्यता में यह विलक्षणता पाई जाती है।

सारांश यही है कि बिल्ली मे शेर का उपचार करके शेर का ज्ञान तो किया जा सकता है लेकिन बिल्ली में शेर का उपचार करने के कारण बिल्ली को भी शेर मान लेना या बिल्ली से शेर की उत्पत्ति मान लेना स्वयं अपनी ही समझ की भूल है।

इस प्रकार से उपचरित कथन का सही प्रयोजन समझ कर भव्यजीव जिनवाणी के यथार्थ रहस्य की समझ द्वारा स्वभाव दृष्टि को अपना कर अपना कल्याण करें। ☐

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-६०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-०

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-०

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-०

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री १२०-००

Jaia Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।